कुरुक्षेत्र

ग्रामीण विकास को समर्पित

वर्ष 67 अंक : 6 पृष्ठ : 56 अप्रैल 2021 मूल्य : ₹ 22

लोक कला और संस्कृति

आज़ादी का अमृत महोत्सव

प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने 12 मार्च, 2021 को अहमदाबाद के साबरमती आश्रम से 'पदयात्रा' (फ्रीडम मार्च) को झंडी दिखाकर 'आज़ादी का अमृत महोत्सव' भारत@75 के पूर्वावलोकन कार्यकलापों का उद्घाटन किया। उन्होंने भारत@75 समारोहों के लिए अन्य विभिन्न सांस्कृतिक और डिजिटल पहलों को भी लांच किया।

प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी 12 मार्च, 2021 को गुजरात के अहमदाबाद में 'आजादी का अमृत महोत्सव' (भारत@75) के दौरान पूर्वालोकन से जुड़े कार्यकलापों का उद्घाटन करते हुए। साथ में गुजरात के राज्यपाल श्री आचार्य देवव्रत, गुजरात के मुख्यमंत्री, श्री विजय रूपाणी, संस्कृति और पर्यटन राज्यमंत्री (स्वतंत्र प्रभार) श्री प्रह्लाद सिंह पटेल और अन्य गणमान्य लोग भी हैं।

साबरमती आश्रम में जनसमूह को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री ने 15 अगस्त, 2022 से 75 सप्ताह पूर्व "आज़ादी का अमृत महोत्सव" आरंभ किए जाने की चर्चा की जो 15 अगस्त, 2023 तक चलेगा। उन्होंने महात्मा गांधी और महान व्यक्तित्वों को श्रद्धांजलि अर्पित की जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दी। प्रधानमंत्री ने पांच स्तंभों अर्थात स्वतंत्रता संग्राम, 75 पर विचार, 75 पर उपलब्धियां, 75 पर कार्रवाइयां तथा 75 पर संकल्प को प्रेरणा मानते हुए सपनों और दायित्वों को बनाए रखने तथा आगे बढ़ने के मार्गदर्शी बल के रूप में दोहराया। प्रधानमंत्री ने ज़ोर देकर कहा कि आज़ादी अमृत महोत्सव का अर्थ स्वतंत्रता की ऊर्जा का 'अमृत' है। इसका अर्थ हुआ– स्वतंत्रता संग्राम के योद्धाओं की प्रेरणाओं का अमृत; नए विचारों और संकल्पों का अमृत और आत्मनिर्भरता का अमृत। प्रधानमंत्री ने कहा कि भारत की उपलब्धियां समस्त मानवता को भरोसा दे रही हैं। उन्होंने यह भी कहा कि भारत की विकास यात्रा आत्मनिर्भरता से भरी हुई है और यह पूरी दुनिया की विकास यात्रा को गति दे रही है।

प्रधानमंत्री ने युवाओं और विद्वानों से हमारे स्वाधीनता सेनानियों के इतिहास के दस्तावेज़ीकरण के द्वारा देश के प्रयासों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी लेने का आग्रह किया। उन्होंने उनसे स्वतंत्रता आंदोलन की उपलब्धियों को विश्व के सामने प्रदर्शित करने का अनुरोध किया। उन्होंने कला, साहित्य, थियेटर की दुनिया, फिल्म उद्योग तथा डिजिटल मनोरंजन से जुड़े लोगों से उन अनूठी कहानियों, जो हमारे अतीत में बिखरी हुई हैं, की खोज करने और उनमें नया जीवन डालने का आग्रह किया।

प्रधानमंत्री ने इस अवसर पर भारत@75 की वेबसाइट लांच की। उन्होंने विलुप्त होने के कगार पर खड़े कारीगरों/शिल्पकारों के कौशलों तथा कलाओं को संरक्षित करने के लिए साबरमती आश्रम संरक्षण एवं स्मारक ट्रस्ट की साझेदारी में संस्कृति मंत्रालय के "आत्मनिर्भर इंक्यूबेटर" कार्यक्रम की भी शुरुआत की।

प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी 12 मार्च, 2021 को गुजरात के अहमदाबाद में 'आज़ादी का अमृत महोत्सव' (भारत@75) के दौरान दांडी मार्च की चित्रकला पर आधारित प्रदर्शनी का मुआयना करते हुए।

"वोकल फॉर लोकल" को बढ़ावा देने के लिए प्रधानमंत्री द्वारा एक अनूठा चरखा अभियान भी आरंभ किया गया। इस अवसर पर "आज़ादी का अमृत महोत्सव" पर एक लघु फिल्म भी दिखाई गई और दांडी यात्रा गीत आयोजित किए गए। इस अवसर पर देश की सांस्कृतिक विभिन्नताओं तथा विविधता को प्रदर्शित करते हुए 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' की भावना में रंगारंग और प्रेरणादायी सांस्कृतिक प्रदर्शन किए गए।

'आजादी का अमृत महोत्सव' भारत की स्वाधीनता की 75वीं वर्षगांठ मनाने के लिए भारत सरकार द्वारा आयोजित किए जाने वाले कार्यक्रमों की एक शृंखला है। यह महोत्सव जनभागीदारी की भावना से देशभर में एक जन–उत्सव के रूप में मनाया जाएगा।

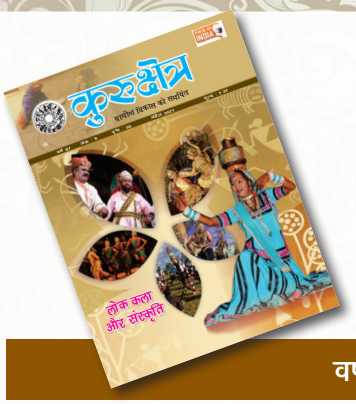

कुरुक्षेत्र

ग्रामीण विकास मंत्रालय की प्रमुख मासिक पत्रिका

इस अंक में

वर्ष : 67 ★ मासिक अंक : 6 ★ पृष्ठ : 56 ★ चैत्र–वैशाख 1943 ★ अप्रैल 2021

प्रधान संपादक: राकेशरेणु

वरिष्ठ संपादक : ललिता खुराना

उत्पादन अधिकारी : के. रामालिंगम

आवरण : राजिन्द्र कुमार

सज्जा : मनोज कुमार

संपादकीय कार्यालय
कमरा नं. 655, सूचना भवन, सी.जी.ओ. काम्पलेक्स,
लोधी रोड, नई दिल्ली-110003
वेबसाइट : publicationsdivision.nic.in
ई-मेल : kuru.hindi@gmail.com

व्यापार प्रबंधक
दूरभाष : 011-24367453

कुरुक्षेत्र मंगवाने की दरें
एक प्रति: ₹ 22, विशेषांक : ₹ 30, वार्षिक : ₹ 230,
द्विवार्षिक : ₹ 430, त्रिवार्षिक : ₹ 610

कुरुक्षेत्र में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। यह आवश्यक नहीं कि सरकारी दृष्टिकोण भी वही हो। पाठकों से आग्रह है कि कैरियर मार्गदर्शक किताबों/संस्थानों के बारे में विज्ञापनों में किए गए दावों की जांच कर लें। पत्रिका में प्रकाशित विज्ञापनों की विषय–वस्तु के लिए 'कुरुक्षेत्र' उत्तरदायी नहीं है।

कुरुक्षेत्र की सदस्यता का शुल्क जमा करने के बाद पत्रिका प्राप्त होने में कम से कम 8 सप्ताह का समय लगता है। इस अवधि के समाप्त होने के बाद ही पत्रिका प्राप्त न होने की शिकायत करें।

पत्रिका न मिलने की शिकायत हेतु इस पते पर मेल करें ई–मेल : pdjucir@gmail.com कुरुक्षेत्र की सदस्यता लेने या पुराने अंक मंगाने के लिए भी इसी ई–मेल पर लिखें या संपर्क करें। अधिक जानकारी के लिए दूरभाष: 011–24367453 पर संपर्क करें।

कुरुक्षेत्र की सदस्यता की जानकारी लेने तथा विज्ञापन छपवाने के लिए संपर्क करें–

गौरव शर्मा, संपादक, पत्रिका एकांश
प्रकाशन विभाग, कमरा सं. 779, सातवां तल,
सूचना भवन, सीजीओ परिसर,
लोधी रोड, नयी दिल्ली–110003

भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत 5
–अविनाश मिश्रा, शर्मिष्ठा सिन्हा

भारतीय लोक विधाएं : सूचना, शिक्षा और संचार का माध्यम 9
–युगल किशोर जोशी

भारतीय लोककला और संस्कृति का संरक्षण ज़रूरी 15
–हेमंत मेनन

लोकज्ञान और परंपरा जीवित रखते आदिवासी 20
–अमरेंद्र किशोर

लोकनृत्यों में मिट्टी की सुगंध 25
–गरिमा संजय

स्त्री के भीतर छिपी बैठी कला 29
–शम्पा शाह

पूर्वोत्तर की कला-संस्कृति 34
–उमा कुमारी साह

वारली : प्रकृति के इर्द-गिर्द घूमती ज़िंदगी 39
–डॉ. शशि ए. मिश्रा

पारंपरिक खिलौना उद्योग में असीम संभावनाएं 42
–दिलशेर धूपिया

सिनेमा : बेहतर भारत के निर्माण का माध्यम 44
–जाहनु बरुआ

भारत में प्रदर्शन कला का संरक्षण और संवर्धन 48
–सुमन कुमार

छत्तीसगढ़ का पर्यावरण हितैषी हस्तशिल्प 52
–शंकरलाल धुर्वे

प्रकाशन विभाग के विक्रय केंद्र

नई दिल्ली	पुस्तक दीर्घा, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड	110003	011–24367260
दिल्ली	हाल सं. 196, पुराना सचिवालय	110054	011–23890205
नवी मुंबई	701, सी-विंग, सातवीं मंज़िल, केंद्रीय सदन, बेलापुर	400614	022–27570686
कोलकाता	8, एसप्लानेड ईस्ट	700069	033–22488030
चेन्नई	'ए विंग, राजाजी भवन, बसंत नगर	600090	044–24917673
तिरुअनंतपुरम	प्रेस रोड, नई गवर्नमेंट प्रेस के निकट	695001	0471–2330650
हैदराबाद	कमरा सं. 204, दूसरा तल, सीजीओ टावर, कवादिगुड़ा सिकंदराबाद	500080	040–27535383
बैंगलुरु	फर्स्ट फ्लोर, 'एफ विंग, केंद्रीय सदर, कोरामंगला	560034	080–25537244
पटना	बिहार राज्य कोऑपरेटिव बैंक भवन, अशोक राजपथ	800004	0612–2683407
लखनऊ	हॉल सं-1, दूसरा तल, केंद्रीय भवन, क्षेत्र-ए, अलीगंज	226024	0522–2325455
अहमदाबाद	4–सी, नैप्च्युन टॉवर, चौथी मंज़िल, एचपी पेट्रोल पंप के निकट, नेहरू ब्रिज कार्नर, आश्रम रोड, अहमदाबाद	380009	079–26588669

संपादकीय

भारत एक बहु–प्रादेशिक देश है। यहां अलग–अलग भाषाएं हैं, उनका अपना साहित्य है; अलग–अलग परंपराएं हैं, लोककला और संस्कृति है। यह विविधता ही हमारे देश की संपन्नता है। भारत की विविधता वास्तव में अनूठी है। इस विविधता ने जो सांस्कृतिक संपदा दी है, वह भी अद्‌भुत, अप्रतिम है। इस सांस्कृतिक संपदा का प्रवाह हमें लोककलाओं में मिलता है। लोककलाओं के माध्यम से हमारी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता परिलक्षित होती है और इसके अंतर्गत लोकगीत, लोकवाद्य व लोकनृत्य आते हैं।

लोककला किसी भी संस्कृति का दर्पण मानी जाती है। किसी भी संस्कृति का बहुत गहरा प्रभाव उस देश–प्रदेश की कला पर होता है। संस्कृति का उद्‌भव, विकास और परिष्कृति सब कुछ आम लोगों के जरिए ही हुआ है। अतः वे जिससे घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं, ऐसी लोककलाओं में संस्कृति की झलक और भी स्पष्ट और सच्ची मिलती है।

जम्मू–कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, बंगाल से मुंबई–गोवा तक विविधता से भरे हमारे देश के लोक संगीत में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियां गाती है, फसलें गाती हैं, उत्सव, मेले, ऋतुएं और परंपराएं गाती हैं। उत्तर से चलें तो जम्मू–कश्मीर का लोकसंगीत वहां के निसर्ग का, झरनों का, वादियों का चित्र खड़ा कर देते हैं तो पंजाब का ज़िक्र आते ही भांगड़ा सुनाई देने लगता है। जब खलिहान में अनाज के ढेर लगते हैं तो किसान का दिल झूम उठता है और उसकी खुशी स्वरों में मुखरित होने लगती है, पांव थिरकने लगते हैं सब कुछ तालबद्ध हो जाता है।

हर एक प्रदेश का अपना रंग है और उस रंग में रंगी वहां की लोककला है जो अपनी अस्मिता को व्यक्त करती है। वहां का मौसम, भौगोलिक संपदा, फसलें, भाषाएं, धार्मिक परंपराएं, रीति–रिवाज़, त्यौहार, शादी–ब्याह, जन्म–मरण सब कुछ लोककला के माध्यम से लोकगीत–संगीत में चित्रित हो जाता है।

भारत के हर प्रांत में, हर गांव की मिट्टी में लोक गीत–संगीत और नृत्य की सोंधी–सोंधी सुगंध रची–बसी है। हर प्रांत और हर क्षेत्र की लोककला अपनी लय और ताल के बीच भारत की पारंपरिक विरासत को संजोए हुए है। हर प्रांत की लोककला में परंपराओं और संस्कृति का अद्‌भुत समावेश देखने को मिलता है। यूं तो पूरे भारत के विभिन्न प्रांतों के लोकगीत–संगीत में काफी विविधता देखने को मिलती है लेकिन उस अनेकता में भी एकता समाहित है।

अधिकतर लोकगीतों का संबंध हमारे त्यौहार– होली, दशहरा, नवरात्रि जैसे कुछ विशेष पर्व या फिर हमारी संस्कृति से जुड़े विभिन्न संस्कारों जैसे विवाह, मुंडन, शिशु जन्म आदि से जुड़ा होता है अथवा फसल की रोपाई–कटाई पर हर्षोल्लास व्यक्त किया जाता है। असम का बिहू, सिक्किम का मारुनी, त्रिपुरा का मैमिता लोकनृत्य हो या झारखंड का झूमर और छत्तीसगढ़ का सैला नृत्य, ये सभी नृत्य फसल की कटाई के समय खुशहाली और उल्लास का प्रतीक हैं। इसी तरह गोंड, बैगा औरो जनजातियों द्वारा किया जाने वाला करमा नृत्य बसंत उत्सव का प्रतीक है। तमिलनाडु के सर्वाधिक प्रचलित लोकनृत्य करगम में वहां की परंपराओं की झलक मिलती है। बुंदेलखंड क्षेत्र का जावरा नृत्य धन–धान्य और समृद्धि से संबद्ध अनुष्ठानों से जुड़ा है। बंगाल का ब्रित नृत्य गर्भाधान के आनंद में किया जाने वाला नृत्य है। गुजरात का गरबा नृत्य विशेष रूप से नवरात्रि पर्व से जुड़ा है जिसमें मां दुर्गा की पूजा की जाती है।

हमारे देश के हर राज्य या हर क्षेत्र में किसी खास संस्कृति या धर्म से जुड़ा उत्सव मनाया जाता है और हर उत्सव किसी ना किसी उच्च जीवन मूल्य, मानवता, शांति, शक्ति और जीवंतता से जुड़ा है। उदाहरण के लिए केरल में ओणम, तमिलनाडु में पोंगल, महाराष्ट्र में गणेश चतुर्थी, ओड़िशा में रथयात्रा, बंगाल में दुर्गा पूजा, उत्तराखंड में फूल देई, पंजाब में बैसाखी आदि उत्सव ऐसे अवसर हैं जब तमाम तरह की लोककलाएं –गीत, नृत्य, ड्रामा और अन्य कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं और करोड़ों लोग उन्हें देखने और उनमें हिस्सा लेने आते हैं। यह सभी उत्सव और मेले सूचना, शिक्षा और संचार के संदेशों को रचनात्मकता के साथ पेश करने के शानदार अवसर प्रदान करते हैं। स्वच्छ भारत मिशन की सफलता में लोकसंचार माध्यमों का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

संक्षेप में, हमारे देश की संस्कृति और लोककला की विविधता और संपन्नता हमारी अमूल्य धरोहर है। जो हमारा अपना है, वह अनुपम है, अनूठा है, शाश्वत है और उसका संरक्षण उसके मूल स्वरूप में ही किया जाना चाहिए। साथ ही, स्थानीय कला, लोकगीत –संगीत को बढ़ावा देने और उनके संरक्षण में 'देखो अपना देश' जैसी पहल लोगों को अपनी जड़ों की ओर लौटने में मदद करेंगी।

भारत की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत

–अविनाश मिश्रा
–शर्मिष्ठा सिन्हा

हमारी धरोहर या विरासत सिर्फ ईंट और चूने का हिस्सा नहीं हैं, बल्कि यह हमारी संस्कृति और लोगों से जुड़ा हुआ मामला है। यह उस ढांचे पर आधारित जगह, संस्कृति, जीवनशैली, कारीगरी और अर्थव्यवस्था से जुड़ा हुआ इतिहास है। ये चीजें न सिर्फ अतीत को प्रतिबिंबित करती हैं, बल्कि ऐतिहासिक पर्यटन के माध्यम से वर्तमान और भविष्य में रोज़गार पैदा करने का अवसर भी प्रदान करती हैं।

हमारे देश के अलग–अलग हिस्सों में बड़े पैमाने पर स्मारक और ऐतिहासिक स्थल मौजूद हैं। ये तमाम स्मारक और स्थल हमारे गौरवशाली अतीत का हिस्सा हैं। एक अनुमान के मुताबिक, 5 लाख से भी ज्यादा ऐतिहासिक इमारतें और ऐसे स्थल हमारी विरासत का हिस्सा हैं। इनमें भारतीय पुरातत्व विभाग के संरक्षण के तहत मौजूद स्मारक, राज्यों के पुरातत्व विभाग से जुड़ी चीजें और अन्य तरह की धरोहर शामिल हैं, मसलन ऐतिहासिक स्थल, औद्योगिक धरोहर, सांस्कृतिक ठिकाने, अधोजल (पानी के नीचे का) पुरातत्व, बावड़ियां (स्टेप वेल), मिले–जुले स्थल आदि। मौजूदा आंकड़ों के मुताबिक, भारत में कुल 38 ऐसे स्थल और इमारतें हैं, जो यूनेस्को की विश्व धरोहर स्थल की सूची में शामिल हैं। इनमें 30 सांस्कृतिक स्थल हैं, जबकि सात प्राकृतिक स्थल और एक स्थल मिला–जुला है। साथ ही, देश की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत भी काफी समृद्ध और विविधतापूर्ण है, मसलन वाचिक परंपरा और अभिव्यक्तियां, शिल्पकारिता आदि। इनमें कई सांस्कृतिक धरोहर संरक्षित हैं और शहरी व अर्ध–शहरी क्षेत्रों में मौजूद हैं। साथ ही, बड़ी संख्या में लोग इन धरोहरों को देखने आते हैं। हालांकि, ग्रामीण इलाकों और दूरदराज के जनजातीय इलाकों में मौजूद कई धरोहर उपेक्षित अवस्था में हैं और इनका संरक्षण नहीं किया जा रहा है।

हमारी धरोहर या विरासत सिर्फ ईंट और चूने का हिस्सा नहीं हैं, बल्कि यह हमारी संस्कृति और लोगों से जुड़ा हुआ मामला है। यह उस ढांचे पर आधारित जगह, संस्कृति, जीवनशैली, कारीगरी और अर्थव्यवस्था से जुड़ा हुआ इतिहास है। ये चीजें न सिर्फ अतीत को प्रतिबिंबित करती हैं, बल्कि ऐतिहासिक पर्यटन के माध्यम से वर्तमान और भविष्य में रोज़गार पैदा करने का अवसर भी प्रदान करती हैं। इन इमारतों और स्थलों का उचित प्रबंधन किए जाने पर इनके आसपास रहने वाले लोगों की ज़िंदगी में भी बड़ा बदलाव लाया जा सकता है। धरोहर से जुड़ी संपत्तियों और परंपराओं की पहचान करना ज़रूरी है, क्योंकि यह इन इलाकों के लोगों की पहचान से करीबी तौर पर जुड़ा है। दूसरी तरफ, इन स्थलों के संरक्षण और प्रचार–प्रसार से इन लोगों के जीवन–स्तर को बेहतर बनाने में मदद मिल सकती है। जोड़े गए कुल मूल्य (एनवीए) के लिहाज से साल 2019 में ग्रामीण इलाकों में प्रति व्यक्ति आय

40,925 रुपये है। देश की 70 प्रतिशत से ज़्यादा आबादी अब भी गांवों में रहती है और इनमें से आधे से भी ज़्यादा लोग अपनी आजीविका के लिए सिर्फ कृषि और इससे संबंधित गतिविधियों पर निर्भर हैं। हालांकि, गांवों से तेज़ी से पलायन हो रहा है और सांस्कृतिक तथा जैव विविधता का नुकसान भी देखने को मिल रहा है। ग्रामीण पर्यटन और ऐतिहासिक पर्यटन में वृद्धि से गांवों में बड़े पैमाने पर रोज़गार और कारोबारी अवसरों में बढ़ोत्तरी होगी।

धरोहरों के जरिए कैसे बदलेगी ग्रामीण अर्थव्यवस्था?

देश के ग्रामीण इलाकों में ऐसी कई धरोहर (प्राचीन इमारतें) मौजूद हैं, जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। हालांकि, इन पर अब तक ध्यान नहीं दिया गया है। ये धरोहरें स्थानीय–स्तर पर और भविष्य की पीढ़ियों के लिए सामाजिक–आर्थिक बेहतरी का माध्यम भी हैं। कोरोना से बचाव के लिए भारत और अन्य देशों में टीकाकरण का अभियान जारी है और अब पर्यटन और यात्रा का सिलसिला भी शुरू हो रहा है। इस महामारी के मद्देनजर, लोग अब कम भीड़–भाड़ वाले इलाकों में घूमना–फिरना चाहते हैं। वे ऐसे स्थान की तरफ आकर्षित हो सकते हैं जो स्वच्छ, सेहत के लिए बेहतर और प्रदूषण से मुक्त हो। गांवों की अर्थव्यवस्था में यात्रियों का अहम योगदान होगा और इस तरह स्थानीय लोगों के लिए कारोबार के अवसर पैदा होंगे। कोरोना महामारी ने हमें स्थानीय संसाधनों के महत्व के बारे में बताया है। पारंपरिक बावड़ियां न सिर्फ धरोहर की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि जलस्रोतों को फिर से बहाल करने के मकसद से भी इस विकल्प का इस्तेमाल किया जा सकता है। इससे एक तरह जहां पर्यटकों को आकर्षित करने में मदद मिलेगी, वहीं दूसरी तरफ कई स्तरों पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को फायदा होगा। इससे गांवों में आधारभूत संरचना, दुकानों, सेवा संबंधी सुविधाओं आदि का विकास हो सकेगा और संबंधित इलाके में पानी की दिक्कत को भी दूर किया जा सकेगा। इन धरोहरों के संरक्षण, प्रबंधन और प्रचार–प्रसार से युवा पीढ़ी के भी ज्ञान में बढ़ोत्तरी होगी।

कोणार्क नृत्य महोत्सव 2019

भारत सरकार ने 2020–21 के बजट में 5 पुरातात्विक स्थलों– राखीगढ़ी (हरियाणा), हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश), शिवसागर (असम), धोलावीरा (गुजरात) और अदिचनल्लूर (तमिलनाडु) को महत्वपूर्ण स्थल के तौर पर विकसित करने का प्रस्ताव किया है। इन स्थलों पर संग्रहालय भी मौजूद होंगे। राखीगढ़ी में सिंधु घाटी सभ्यता से पहले के अवशेष मिले हैं और इसका संबंध 6,500 ई. पूर्व से है। यह जगह हरियाणा के हिसार ज़िले में मौजूद है। धोलावीरा में सिंधु घाटी सभ्यता/हड़प्पा शहर के अवशेष मिले हैं। यह स्थल गुजरात के धोलावीरा गांव के पास मौजूद है। अदिचनल्लूर में लौह युग से जुड़े दक्षिण एशिया के सबसे पुराने कब्रिस्तान की मौजूदगी का पता चलता है। ये स्थल ऐतिहासिक, धार्मिक और विरासत के लिहाज से काफी महत्वपूर्ण हैं और इन स्थलों को विकसित करने से लोगों की जानकारी बढ़ेगी और पर्यटन के जरिए ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिलेगा। जिससे इन इलाकों के लोगों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति भी बेहतर होगी।

पर्यटन मंत्रालय की 'स्वदेश दर्शन' योजना के तहत 6 बौद्ध सर्किट हैं। हालांकि, अशोक के शिलालेख और धरोहर के लिए कोई खास सर्किट नहीं है। इसके अलावा, प्रासाद (PRASHAD) के अंदर कोई बौद्धस्थल नहीं है और प्रतिष्ठित स्थल योजना के तहत सिर्फ एक स्थल, महाबोधि मंदिर की पहचान की गई है। बौद्ध धर्म से जुड़े पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए (खासतौर पर दक्षिण एशिया और दक्षिण–पूर्व एशिया के पर्यटकों के लिए) भारत में प्रतिष्ठित और महत्वपूर्ण बौद्धस्थलों को धरोहर के तौर पर विकसित किया जा सकता है। 10 बौद्धस्थलों, खासतौर पर अशोक के शिलालेखों और स्तंभों (शिलालेख में गिरनार, सोपारा, धौली, जोगदा, सन्नति, येर्रागुडी, जबकि स्तंभों में कलसी, दिल्ली, वैशाली, रामपर्व और लउरिया शामिल हैं) को परिक्रमा स्थल के तौर पर विकसित किया जा सकता है।

बौद्ध धर्म से जुड़े अशोक के शिलालेख और स्तंभ हमारी अमूल्य धरोहर हैं। इनमें से कई धरोहर मुख्य शहर से काफी दूर हैं। इसी तरह, बागों की परंपरा (जैसे बुंदलेखंड के शाही बाग) को पुनर्जीवित कर स्थानीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था को बढ़ावा दिया जा सकता है। जनजातीय बस्तियों से जुड़ी ग्रामीण विरासत की पहचान भी अब 'सांस्कृतिक क्षेत्र' के तौर पर की जा रही है। इसके तहत, कंचनजंगा राष्ट्रीय उद्यान को 2016 में यूनेस्को की विश्व धरोहर सूची में शामिल किया गया। साथ ही, स्पीति–लद्दाख क्षेत्र में मौजूद अपतानी सांस्कृतिक क्षेत्र को यूनेस्को की संभावित सूची में शामिल किया गया है। इन इलाकों में रहने वाले लोगों के पास पारिस्थितिकी–तंत्र को बचाने का अनोखा

स्टोन टॉवर, जैसलमेर, राजस्थान

नुस्खा है और यह आधुनिक मशीन और तकनीक से ज्यादा कारगर है।

नीतिगत सुझाव

ऐतिहासिक इमारतों और अन्य ढांचों को फिर से लोकप्रिय बनाने के लिए बेहद अहम प्रबंधन योजना तैयार करने की ज़रूरत है। इसके तहत, सबसे पहले राष्ट्रीय पुरात्तात्विक डेटाबेस बनाना होगा। स्थलों से जुड़े दस्तावेज़ तैयार करने और उनके सर्वे, खुदाई, संरक्षण व प्रचार–प्रसार और मार्केटिंग के लिए उन्नत तकनीक का इस्तेमाल करने की ज़रूरत होगी। साथ ही, ऐतिहासिक पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए पेशेवर मार्केटिंग रणनीति तैयार करनी होगी। ज़मीनी–स्तर पर स्मारकों की देखरेख के लिए ज़रूरी कौशल से लैस कर्मचारियों की भी ज़रूरत होगी।

कोरोना संकट खत्म होने के बाद ग्रामीण पर्यटन में बढ़ोत्तरी हो सकती है। ऐसे में, ग्रामीण इलाकों में मौजूद ऐतिहासिक स्थलों/इमारतों की तरफ पर्यटक आकर्षित हो सकते हैं। राष्ट्रीय संरक्षण नीति के दिशा–निर्देशों के मुताबिक, संरक्षण कार्यों में किसी परियोजना से जुड़ी 70 प्रतिशत लागत कुशलकर्मियों की मज़दूरी होती है। पुरात्तात्विक खनन और ऐतिहासिक बावड़ियों/टैंक/कुंओं की सफाई (गाद निकालना) जैसी परियोजनाओं में 100 प्रतिशत लागत अकुशल कर्मियों पर खर्च होती है। अतः भारतीय पुरात्तत्व सर्वेक्षण और राज्य–स्तर के सभी पुरात्तत्व विभागों को असरदार ढंग से राष्ट्रीय संरक्षण नीति लागू करने की ज़रूरत है। इस नीति के तहत, देश में मौजूद पारंपरिक शिल्पकारी और पारंपरिक भवन निर्माण सामग्री, और कौशल को संरक्षण प्रक्रिया का अटूट हिस्सा बताया गया है। यह एक ऐसी समग्र नीति है, जिसमें पर्यटन और विकास (स्मारक के आसपास और तय दायरे में), क्षमता निर्माण, बहु–विषयक इकाइयों और संस्थानों के साथ साझेदारी और स्थानीय समुदायों की भूमिका पर फोकस किया गया है। कुछ राज्यों ने इसे पूरी तरह से लागू किया है। राजस्थान के पुरात्तत्व विभाग द्वारा साल 2014 में इन विश्व धरोहर स्थलों के लिए इस दिशा–निर्देश को लागू किया गया था। राजस्थान के पुरात्तत्व विभाग ने राष्ट्रीय नीति के कुछ और उपखंडों को लागू किया है, मसलन स्थानीय कर्मियों को काम पर रखना और संरक्षण के लिए क्षेत्र के हिसाब से दरें तय करना। इस तरह के नियमों को देशभर में लागू किया जाना चाहिए।

ऐतिहासिक इमारतों और अन्य ढांचों को फिर से लोकप्रिय बनाने के लिए बेहद अहम प्रबंधन योजना तैयार करने की ज़रूरत है। इसके तहत, सबसे पहले राष्ट्रीय पुरातात्विक डेटाबेस बनाना होगा। स्थलों से जुड़े दस्तावेज़ तैयार करने और उनके सर्वे, खुदाई, संरक्षण व प्रचार–प्रसार और मार्केटिंग के लिए उन्नत तकनीक का इस्तेमाल करने की ज़रूरत होगी। इसके साथ ही, ऐतिहासिक पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए पेशेवर मार्केटिंग रणनीति तैयार करनी होगी।

भारतीय पुरात्तत्व सर्वेक्षण या राज्यों के पुरात्तत्व विभागों को ऐसी परियोजनाओं की पहचान करने की ज़रूरत है जिन्हें मनरेगा फंडों के जरिए ग्रामीण इलाकों में लागू किया जा सके। कुछ मामलों में, इस तरह के कार्य सरकार के अन्य ज़रूरी मकसदों को भी पूरा कर सकते हैं, जैसे कि पुराने जल निकायों को पुनर्जीवित करना और बारिश का पानी इकट्ठा करना।

भारत सरकार की 'धरोहर गोद लें' योजना का मकसद धरोहर स्थलों/स्मारकों को विकसित करना, उन्हें पर्यटन के अनुकूल बनाना और पर्यटन की संभावनाओं को बढ़ाना है। इसमें विज़न बिडिंग की नई अवधारणा के जरिए सामाजिक ज़िम्मेदारी से जुड़ी पहल में लोगों और एजेंसियों की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित कर 'स्मारक मित्र' बनाने का ज़िक्र है। हालांकि, 'धरोहर गोद लें' योजना के तहत हुई प्रगति काफी धीमी रही है और इस सिलसिले में स्थलों पर पर्याप्त काम देखने को नहीं मिलता है। ज्यादातर 'स्मारक मित्र' का लक्ष्य एमओयू के मुताबिक तय समय से काफी पीछे चल रहा है। इस सिलसिले में मिले सुझावों के मुताबिक, काम की गुणवत्ता और समय–सीमा के पालन की समीक्षा के लिए निगरानी समिति बनाने की ज़रूरत है।

भारत सरकार के 'हुनर से रोज़गार तक' कार्यक्रम के तहत, आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के ग्रामीण युवाओं को पर्यटक गाइड, इवेंट समन्वयक, सुरक्षा गार्ड, यात्रा सहायक, ऑफिस सहायक आदि बनने के लिए प्रशिक्षण दिया जा सकता है। ऐतिहासिक पर्यटन को ध्यान में रखते हुए, प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना

ताजमहल, आगरा

(पीएमकेवीवाई), संकल्प, उड़ान व पॉलिटेक्नीक योजनाओं और स्कूल व उच्च शिक्षा के स्तर पर शिक्षा के व्यावसायीकरण के ज़रिए स्थानीय लोगों का कौशल बढ़ाने के लिए प्रयास किए जाने चाहिए। कई कौशल तकनीकी हो सकते हैं और इसमें उच्च तकनीक की जरूरत हो सकती है। हालांकि, जैसाकि कई मामलों में देखा जा सकता है, स्थानीय महिलाओं को शिल्पकलाओं के पुनर्नवीकरण में लगाया गया। उदाहरण के तौर पर, लद्दाख के मठों में ऐसा देखा जा सकता है।

स्मारकों और बागों के लिए कई तरह के कार्यों को करने वाले कर्मचारी (मल्टी टास्टिक स्टाफ) की भर्ती में आउटसोर्सिंग के जरिए सिर्फ स्थानीय लोगों को शामिल किया जा सकता है। ऐसे कर्मचारी अपने गृह राज्य में मौजूद स्मारकों से ज़्यादा जुड़ाव महसूस करेंगे। किसी शख्स के नौकरी छोड़ने की स्थिति में आउटसोर्सिंग एजेंसी जल्द से जल्द ज़रूरी कौशल से लैस अन्य कर्मचारी की भर्ती करेगी। परियोजनाओं में यथासंभव ज्यादा से ज़्यादा स्थानीय लोगों की सहभागिता सुनिश्चित की जा सकती है, मसलन डिज़ाईन की समीक्षा, रखरखाव, 'हेरिटेज वॉक' के लिए लोगों की तैनाती, ऐतिहासिक इमारतों के रखरखाव के लिए सलाह–मशविरा, स्थानीय अर्थव्यवस्था के लिए अवसर मुहैया कराना। ऐतिहासिक इमारतों के संरक्षण, प्रबंधन और प्रचार–प्रसार में स्थानीय समुदाय की सहभागिता आवश्यक है। इससे ऐसे लोगों में स्मारकों और ऐतिहासिक स्थलों को लेकर अधिकार और ज़िम्मेदारी की भावना भी पैदा होती है। ऐतिहासिक इमारतों या स्थलों और उनके आसपास के लिए संरक्षण योजना (जिसमें विकास और आधारभूत संरचना की योजनाएं भी शामिल हैं) तैयार करते वक्त स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों को भी इस प्रक्रिया में शामिल किया जाना चाहिए।

ग्रामीण पर्यटन के तहत ग्रामीण जीवन, संस्कृति, कला, हथकरघा और पर्यटकों को आकर्षित करने वाले ऐतिहासिक स्थलों को दिखाया जाता है। इससे स्थानीय लोगों को आर्थिक और सामाजिक तौर पर फायदा होता है। साथ ही, पर्यटकों और स्थाानीय लोगों के बीच बेहतर संवाद का अवसर मिलता है। पंचायत, एनजीओ जैसे स्थानीय संस्थाओं की मदद से कारोबारी इकाईयां और विशेषज्ञ ऐतिहासिक स्थलों को बेहतर तरीके से पेश कर इनकी बेहतर मार्केटिंग कर सकते हैं। जैव विविधता के संरक्षण में स्थानीय प्राधिकरणों और लोगों की भागीदारी की ज़रूरत होती है। उदाहरण के लिए एसआई और गोवा राज्य का विभाग ऐतिहासिक गिरिजाघरों का प्रबंधन करता है, जबकि ग्राम पंचायतों और स्थानीय समुदाय के लोग इस जगह की जैव विविधता के संरक्षण के काम से जुड़े हैं।

ऐतिहासिक स्थलों पर मौजूद संग्रहालयों को सालाना कार्यक्रम तैयार करना चाहिए, ताकि बच्चों, परिवार समेत सभी तरह के दर्शकों को संग्रहालयों के लिए आकर्षित किया जा सके। संग्रहालय में काम करने वाले भी स्थानीय समुदाय से हो सकते हैं और इस तरह इन लोगों में गौरव का भाव भी जगाया जा सकेगा। स्कूली छात्रों की दिलचस्पी बढ़ाने के लिए सभी ऐतिहासिक स्थलों को विशेष कार्यक्रम चलाना चाहिए। इसके तहत, पूरे साल बच्चों के लिए कार्यशाला और अलग–अलग तरह की गतिविधियों और इवेंट का आयोजन किया जाना चाहिए। पर्यटकों के अनुभव को बेहतर बनाने और दिलचस्प तरीके से जानकारी देने के लिए पर्यटन स्थलों पर विशेष हैरिटेज वॉक और ऐतिहासिक जानकारी या विशेष व्याख्या केंद्र बनाने का प्रावधान किया जाना चाहिए। साथ ही, स्थानीय कलाओं से जुड़े खास तरह के उत्पादों वाली दुकानें भी स्थापित करने की ज़रूरत है।

'क्राउड फंडिंग' से लेकर 'कम्युनिटी फंडिंग' तक, फंडिंग से जुड़े नए–नए मॉडल के विकल्पों की तलाश की जा सकती है। पुरात्तत्व विभाग ऐतिहासिक इमारतों के संचालन और रखरखाव में स्थानीय लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करने पर विचार कर सकता है। इससे न सिर्फ दर्शकों की दिलचस्पी बढ़ाने, बल्कि वित्तीय सुविधाएं भी हासिल करने में मदद मिलेगी।

यूनेस्को के 'हेरिटेज' कार्यक्रम का मकसद सांस्कृतिक और प्राकृतिक धरोहरों के लिए अभिनव और ग्रामीण पुनरुद्धार आधारित मॉडल तैयार करना है। भारत के लिए भी ऐसे ही कार्यक्रम की शुरुआत की जा सकती है, ताकि संस्कृति की भूमिका को सतत विकास के चौथे स्तंभ की तरह इस्तेमाल किया जा सके और ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक तौर पर समावेशी आर्थिक विकास व पर्यावरण के संरक्षण में योगदान किया जा सके। ग्रामीण भारत को ध्यान में रखते हुए अतुल्य भारत 2.0 अभियान, पर्यटन क्षेत्र के लिए महामारी के बाद की योजना का हिस्सा हो सकता है जिसमें हमारे देश की अमूल्य धरोहरों और समृद्ध विरासतों के बारे में बताया और दिखाया जाए।

(अविनाश मिश्रा नीति आयोग में एडवाइज़र (पर्यटन और संस्कृति) हैं; शर्मिष्ठा सिन्हा उपनिदेशक (पर्यटन और संस्कृति) हैं। लेख में व्यक्त विचार निजी हैं।)

ई–मेल : amishra-pc@gov.in, sharmistha.s@nic.in

भारतीय लोक विधाएं : सूचना, शिक्षा और संचार का माध्यम

–युगल किशोर जोशी

यह बड़ा आम अनुभव रहा है कि उपयुक्त, पर्याप्त और विकासात्मक सघन संचार के बिना नियोजन और नीति की धारणा और प्रयोजन ज़मीनी–स्तर पर कार्य करने वाले लोगों तक उस रूप में नहीं पहुंच पाते, जिस तरह से इसकी परिकल्पना की गई थी। लेकिन स्वच्छ भारत अभियान के संचार संबंधी अनुभवों से यह बात ज़ाहिर हो जाती है कि यह तीन तत्वों–प्रत्यक्ष संपर्क, पारंपरिक संचार विधाओं (यानी लोक मीडिया) और अनुकूल माहौल की ऐसी त्रिवेणी है जो जनमानस को सबसे अधिक छूती है।

यह बड़ा आम अनुभव रहा है कि उपयुक्त, पर्याप्त और विकासात्मक सघन संचार के बिना नियोजन और नीति की धारणा और प्रयोजन ज़मीनी–स्तर पर कार्य करने वाले लोगों तक उस रूप में नहीं पहुंच पाते, जिस तरह से इसकी परिकल्पना की गई थी। कई बार तो घिसी–पिटी हिदायतों, मोटे–मोटे मैनुअलों, तकनीकी साहित्य और दिशानिर्देशों को क्रियान्वयन के स्तर पर पढ़ा या समझा ही नहीं जाता क्योंकि उनमें तकनीकी भाषा और भारी–भरकम शब्दावली का ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल किया जाता है जिससे वे उबाऊ हो जाते हैं।

इसलिए विकास संचार में कई तरह की विधियों और तौर–तरीकों का उपयोग किया जाता है। मास मीडिया, मिड मीडिया, अंतर–वैयक्तिक संचार जैसे उपायों का इस्तेमाल टेक्नोलॉजी संबंधी नए आविष्कारों को अपनाने के साथ–साथ किया जाता है। लेकिन स्वच्छ भारत अभियान के संचार संबंधी अनुभवों से यह बात ज़ाहिर हो जाती है कि यह तीन तत्वों–प्रत्यक्ष संपर्क, पारंपरिक संचार विधाओं (यानी लोक मीडिया) और अनुकूल माहौल की ऐसी त्रिवेणी है जो जनमानस को सबसे अधिक छूती है।

प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने 2014 में स्वतंत्रता दिवस पर राष्ट्र के नाम अपने पहले ऐतिहासिक संबोधन में भारत में स्वच्छता पर ध्यान केंद्रित करते हुए स्वच्छ भारत मिशन के 'संचार प्रमुख' की भूमिका निभाई। वह ऐसी असाधारण संचार प्रतिभा के धनी हैं जो उन्हें करोड़ों लोगों के दिल और दिमाग से जोड़ती है। वे अपने विचारों को बड़े सरल और सारगर्भित शब्दों में इतनी आसानी से प्रस्तुत करते हैं कि उनके 'मन की बात' कार्यक्रम के दौरान की जाने वाली बातचीत से करोड़ों भारतीयों को देश की भलाई के लिए कार्य करने की प्रेरणा मिली है।

'मन की बात' के ज़रिए प्रधानमंत्री ने स्वच्छता का संदेश फैलाया है और लोगों को इस बारे में लगातार नियमित रूप से स्वच्छता की ज़िम्मेदारी की याद दिलायी है, जो बड़ा अनोखा तरीका है। उन्होंने दस से अधिक ऐतिहासिक जन–स्वच्छता आयोजनों

की अध्यक्षता की है और लाखों लोगों को प्रेरित करने की अपनी क्षमता से स्वच्छ भारत मिशन को एक जनांदोलन में बदल दिया है। 'संकल्प से सिद्धि' के उनके विचार से 'स्वच्छ संकल्प से स्वच्छ सिद्धि' अभियान की प्रेरणा मिली है जिसके परिणामस्वरूप 5 करोड़ से अधिक विद्यार्थी दो सप्ताह की छोटी–सी अवधि में स्वच्छता कार्यक्रमों से जुड़े। उनकी इस सोच की बदौलत ही 'स्वच्छता ही सेवा', 'स्वच्छता हम सबकी ज़िम्मेदारी है', 'स्वच्छ स्मारक', 'स्वच्छता कार्ययोजना' और 'स्वच्छाग्रही' आदि की प्रेरणा प्राप्त हुई। इस तरह ये कार्यक्रम स्वच्छता आंदोलन के उत्प्रेरक बन गए हैं।

ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि जब स्वच्छ भारत मिशन संचार की चुनौतियों का आसान और कारगर हल निकालने में लगा था तो इसका समाधान प्रधानमंत्री की ओर से आया। 30 अगस्त, 2015 को 'मन की बात' के प्रसारण में उन्होंने पारंपरिक उत्सवों, कला और सांस्कृतिक चेतना का उपयोग करते हुए स्वच्छता को लेकर लोगों के व्यवहार में परिवर्तन लाने को प्रेरित किया। उन्होंने कहा कि देश में रक्षाबंधन से लेकर दिवाली तक अनेक उत्सव और त्यौहार होते हैं। इस दौरान क्यों न हम प्रत्येक त्यौहार को स्वच्छता से जोड़ दें? आप देखेंगे कि किस तरह स्वच्छता आपके स्वभाव का अंग बन जाती है।

इस तरह हर त्यौहार पर स्वच्छ भारत मिशन के सूचना, शिक्षा और संचार से संबंधित विषयों के प्रचार–प्रसार का सिलसिला शुरू हुआ जिसमें स्वच्छता संबंधी प्रत्येक आयोजन में पारंपरिक कला और लोकसंचार विधियों का उपयोग किया गया। इससे भारत जैसे विविधताओं वाले देश में, जिसके बारे में कहा जाता है कि यहां हर चार कोस (12 कि.मी.) पर बोली बदल जाती है, लोगों के साथ तत्काल संपर्क स्थापित करने में मदद मिली।

इसने विकासात्मक संचार को लेकर 1953 से चले आ रहे समूचे परिदृश्य को ही बदल कर रख दिया। पहली पंचवर्षीय योजना के मसौदे में इस बात पर ज़ोर दिया गया था ''योजना के बारे में व्यापक समझ इसके पूरा होने का प्रारंभिक चरण है। योजना की प्राथमिकताओं की समझ से प्रत्येक व्यक्ति को समूचे राष्ट्र के प्रति अपने वृहत्तर दायित्वों और उनमें अपनी भूमिका को लेकर जागरूक बनाया जा सकेगा। संचार की सभी उपलब्ध विधियों का विकास किया जाना चाहिए और लोक जनसंचार माध्यमों के ज़रिए लोगों से संपर्क स्थापित किया जाना चाहिए। इसके बाद रेडियो, फिल्म, गीत व नाटक आदि के जरिए लिखित और उच्चारित शब्दों का भरपूर उपयोग किया जाना चाहिए।''

इसलिए विकासात्मक संचार को सीढ़ी–दर–सीढ़ी आगे बढ़ने वाली प्रक्रिया माना गया है जिसमें जनसंचार के लोक–माध्यम केंद्र में थे। लेकिन स्वच्छ भारत मिशन को चंद वर्षों के दौरान ही जनांदोलन बनाने के लिए इस तरह की बाड़ेबंदी काफी नहीं थी। स्वच्छ भारत मिशन में संचार के सभी माध्यमों को एक–दूसरे का पूरक माना गया जो आपस में एक साथ जुड़े हुए हैं। इससे ऐसे संयुक्त, प्रभावशाली और प्रेरणास्पद सूचना, शिक्षा और संचार अभियान का सूत्रपात हुआ जिसमें व्यापक लचीलेपन के साथ–साथ लोक जनसंचार माध्यमों की तरह की पारस्परिक संवाद क्षमता और जनसंचार माध्यमों जैसी अधिकतम दर्शक/श्रोता जुटाने की क्षमता थी।

लोक जनसंचार माध्यमों की लोकप्रियता इसलिए है क्योंकि इसमें जीवंत विधाओं, स्थानीय सौंदर्यबोध और उद्देश्यपूर्ण विषयों का कभी न खत्म होने वाला खजाना है। इसे सदियों पुरानी पारंपरिक कहानियों और पौराणिक कथाओं से शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए यह अपनी प्रभावोत्पादकता में हमेशा तरोताज़ा बना रहता है। इससे स्थानीय बोलियों में मनोरंजन प्राप्त होता है और इसका सौंदर्यबोध स्थानीय सांस्कृतिक संदर्भ से जुड़ा है जिस कारण यह बड़ी आसानी से हमारे मन और मस्तिष्क को छू लेता है। जनसंचार और नई संचार टेक्नोलॉजी के आने के बावजूद यह दूरदराज के ग्रामीण अंचलों में अब भी संचार के महत्वपूर्ण साधन के रूप में अस्तित्व में बना हुआ है।

लोक मीडिया और विकास संचार

लोक जनसंचार माध्यमों की लोकप्रियता इसलिए है क्योंकि इसमें जीवंत विधाओं, स्थानीय सौंदर्यबोध और उद्देश्यपूर्ण विषयों का कभी न खत्म होने वाला खजाना है। इसे सदियों पुरानी पारंपरिक कहानियों और पौराणिक कथाओं से शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए यह अपनी प्रभावोत्पादकता में हमेशा तरोताज़ा बना रहता है। इससे स्थानीय बोलियों में मनोरंजन प्राप्त होता है और इसका सौंदर्यबोध स्थानीय सांस्कृतिक संदर्भ से जुड़ा है जिस कारण यह बड़ी आसानी से हमारे मन और मस्तिष्क को छू लेता है। जनसंचार और नई संचार टेक्नोलॉजी के आने के बावजूद यह दूरदराज के ग्रामीण अंचलों में संचार के महत्वपूर्ण साधन के रूप में अब भी अस्तित्व में बना हुआ है।

बड़े लंबे समय से विकासात्मक संचार के साहित्य में लोक–मीडिया की भूमिका की उपेक्षा की गई। इसका एक कारण औपनिवेशिक मनोवृत्ति हो सकता है। ऐसा समझा जाता था कि पारंपरिक मीडिया स्थानीय संस्कृति का विस्तार भर है, इनसे आधुनिकीकरण में बाधा आ सकती है और उसका उत्साह मंद पड़ सकता है। लोक माध्यमों को स्थानीय समुदाय की पारंपरिक संस्कृति को सुदृढ़ करने वाला कारक समझ कर स्वाभाविक रूप से आधुनिक मनोवृत्ति और व्यवहार की दिशा के प्रतिकूल माना जाता था।[1] परिणामस्वरूप ज्यादातर विकास संचार संसाधनों को रेडियो और टेलीविजन जैसे टेक्नोलॉजी आधारित माध्यमों में ही लगाया जाता था। यह माना जाता था कि नए ज़माने की सूचना को नए ज़माने के ही प्रतीकों की आवश्यकता होगी। इस तरह पूरी तरह नया परिदृश्य निर्मित हो गया जो

1. Melkote, S.R., Steeves एच.एल., कम्युनिकेशन फॉर डेवेलपमेंट, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2015, P–282–283

स्थानीय संस्कृति वालों के लिए लगभग अजनबी की तरह था।

भारत के अनुभव से पता चलता है कि ऊपर से नीचे को चलने वाली (टॉप डाउन) संचार प्रक्रिया कभी–कभार तो अपना संदेश पहुंचाने में कामयाब हो जाती थी लेकिन इससे समाज के सबसे निचले–स्तर पर व्यवहार संबंधी आवश्यक परिवर्तन लाना संभव नहीं होता। भारत जैसे विशाल देश में, जहां जनता की भागीदारी बड़ी जरूरी है, किसी भी सामाजिक सुधार की सफलता के लिए संस्कृति स्वाभाविक रूप से विकास में मददगार आवश्यक शर्त बन जाती है। इस तरह ग्रामीण प्रवासियों के लिए पारंपरिक और आधुनिक प्रणालियों का समन्वय भी अनिवार्य हो जाता है।

1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में संचार के विभिन्न विशेषज्ञों और लेखकों ने ग्रामीण संचार प्रकिया के अत्यंत प्रभावी उपाय के रूप में पारंपरिक मीडिया की वकालत करना शुरू कर दिया था। इस बात पर ज़ोर दिया गया कि भारत जैसे विकासशील, ग्रामीण क्षेत्र की अधिकता वाले, बहुभाषी और विविधताओं से भरे देश में लोक संस्थाएं, परंपराएं और संस्कृति राष्ट्रीय, राज्य और ज़िला–स्तर पर ग्रामीण जनों को प्रेरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

लोक मीडिया को लोकप्रिय बनाने वाली कुछ स्वाभाविक विशेषताएं इस प्रकार हैं:

1. दर्शकों/श्रोताओं की भागीदारी लोकसंचार माध्यमों का अभिन्न अंग है। आयु वर्ग के अंतर के बिना यह उन्हें अतिरिक्त सम्मान और गौरव प्रदान करती है।

2. लोक माध्यम जीवंत, नाटकीय और संगीतमय मनोरंजन देते हैं जिससे आत्माभिव्यक्ति की आंशिक आवश्यकता पूरी होती है।

3. लोक मीडिया तकनीकें सरल और आसान होती हैं और सांस्कृतिक चेतना को प्रदर्शित करती हैं इसलिए हृदयस्पर्शी होती हैं।

उदाहरण के लिए लोग तमाशा देखने के लिए इसलिए इकट्ठा होते हैं क्योंकि इनमें भाग लेने वालों का अभिनय बड़ा जीवंत होता है, इनकी कथा सम–सामयिक विषयों से संबंधित होती है, प्रस्तुतीकरण रंगारंग होता है और इनमें मधुर गीत, नृत्य आदि स्थानीय श्रोता/दर्शकों की रुचि के अनुसार होता है। भजन बड़े लोकप्रिय होते हैं क्योंकि वे सुपरिचित धार्मिक विषय से संबंधित होते हैं, गायकों की आवाज बड़ी मधुर होती है और स्थानीय श्रोताओं की संस्कृति से मेल खाती है। कीर्तन धार्मिक चर्चा के निरंतर प्रवाह की तरह हैं जिनमें सम–सामयिक उपदेश होते हैं। उनकी लोकप्रियता के कारण लगभग वही हैं जो भजनों की लोकप्रियता के हैं।[2]

नौटंकी एक अन्य लोकप्रिय लोक मीडिया है। इसकी ओपेरा जैसी रंगमंच परंपरा उत्तर भारत में बड़ी लोकप्रिय रही है। इसमें कलाकारों के बीच संगीतमय संवाद होता है। गीत, नृत्य, प्रहसन, कामेडी और कोरस गायन भी इनमें होता है। परिवार नियोजन आंदोलन और दहेज विरोधी अभियानों में नौटंकियों का भरपूर उपयोग किया गया। इसी तरह ड्रामा, कव्वाली, धंधार, कठपुतली शो, हरिकथा, पाला, दस्कथिया और अन्य माध्यम भी भारी भीड़ जुटाते हैं।

ये उदाहरण जात्रा का जिक्र किए बगैर पूरे नहीं होंगे। जात्रा पश्चिम बंगाल, ओडिशा, त्रिपुरा, असम और बिहार का एक लोकप्रिय लोक रंगमंच है। ये बहुत लंबे नाटक हैं और संगीत कार्यक्रमों के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं। इनमें संगीत का उपयोग दर्शकों को आकर्षित करने के लिए किया जाता है, हालांकि इसका अपना स्वतंत्र स्वरूप होता है। जात्राओं का मंचन साहित्यिक कृतियों को ग्रामीण जनों तक पहुंचाने के लिए किया जाता है।

लोक माध्यम और लोक मनोरंजन का उत्सवों और मेलों के साथ गहरा संबंध होता है। भारत में हर मौसम में देवी–देवता, रीति–रिवाज़, इतिहास और अवसर विशेष से संबंधित उत्सव मनाए जाते हैं। उदाहरण के लिए उत्तराखंड जैसे छोटे से राज्य में साल भर में 12 प्रमुख उत्सवों, का आयोजन किया जाता है यानी हर महीने कोई न कोई त्योहार होता है। हर उत्सव किसी न किसी रंग, उच्च जीवन मूल्य, मानवता, शांति, शक्ति और जीवंतता से जुड़ा है। हर राज्य या हर क्षेत्र में किसी खास संस्कृति या धर्म से जुड़ा उत्सव मनाया जाता है उदाहरण के लिए केरल में ओणम, तमिलनाडु में पोंगल, महाराष्ट्र में गणेश चतुर्थी, ओडिशा में रथयात्रा, बंगाल में दुर्गा पूजा, उत्तराखंड में फूल देई, पंजाब में बैसाखी, आदि उत्सव वह अवसर हैं जब तमाम तरह की लोककलाएं–नृत्य, ड्रामा और अन्य कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं और करोड़ों लोग उन्हें देखते व उनमें हिस्सा लेते हैं। ये सभी उत्सव और मेले सूचना शिक्षा और संचार के संदेशों को रचनात्मकता के साथ पेश करने के शानदार अवसर प्रदान करते हैं।

ऐसा नहीं है कि संचार की पारंपरिक विधाएं और लोक मीडिया का उपयोग पहले नहीं हुआ हो। सूचना और प्रसारण मंत्रालय का गीत और नाटक प्रभाग 1954 में गठित किया गया था। इसका उद्देश्य विकास के क्षेत्र में लोक मीडिया के उपयोग की आवश्यकताओं को पूरा करना था। तभी से लोक मीडिया की रंगमंच, स्वांग, कठपुतली, नृत्य नाटिका और नृत्य जैसी विधाओं का उपयोग सरकार द्वारा उपलब्ध करायी जाने वाली जनहित की सेवाओं और कार्यक्रमों के बारे में जनता को जानकारी देने में किया जा रहा है। यह सरकारी कार्यक्रमों के बारे में ग्रामीण लोगों में जागरूकता पैदा करने में सराहनीय भूमिका निभाता रहा है। यह कार्य 12 क्षेत्रीय केंद्रों, एक हज़ार से अधिक पैनलबद्ध कलाकारों ओर 700 पंजीकृत नाट्यमंडलियों के जरिए किया जाता है।

इसके अलावा, क्षेत्रीय प्रचार निदेशालय की चलती–फिरती इकाईयां भी ग्रामीण लोगों को घनिष्ठ और जीवंत संचार उपलब्ध कराती हैं। परिवार नियोजन अभियानों के दौरान इनका कारगर

2. Chapke, R, Bhagat, R, ट्रेडिशनल फोक मीडिया : ए पोटेंशियली ऐफेक्टिव कम्युनिकेशन टुल इन रूरल एरिया, AIAEE, 22वीं एनुअल कांफ्रेंस प्रोसिडिंग्स, 2015

तरीके से उपयोग किया गया था।

अक्सर संचार साहित्य में लोक मीडिया का उल्लेख सीमाओं वाले माध्यम के रूप में होता है। तर्क यह दिया जाता है कि लोक मीडिया पूरे साल में जितने लोगों तक पहुंच पाता है उनकी संख्या शहरों में एक सप्ताह में सिनेमा के माध्यम से संपर्क में आए लोगों की संख्या की तुलना में कही कम होती है।[3]

स्वच्छ भारत मिशन ने किस तरह इन बाधाओं को पार किया, इसकी चर्चा आगे करेंगे।

धुरंधर संचारक

इस लेख के प्रारंभिक अनुछदों में मैंने संचार के घटकों की त्रिवेणी यानी प्रत्यक्ष संपर्क, संचार की पारंपरिक विधाएं जैसे, लोक मीडिया और अनुकूल माहौल का ज़िक्र किया था। पिछले पांच साल के अपने अनुभव से हमने पाया कि संचार का बेहतरीन रूप अंतर–वैयक्तिक यानी प्रत्यक्ष संचार है। इसमें संचार में लगा व्यक्ति लोगों से सीधे, उन्हीं ही भाषा में और सुनने वाले के माहौल में बात करता है। लोक मीडिया के सूचना, शिक्षा और संचार संबंधी उपकरण संचार को सुदृढ़ बनाते हैं और अनुकूल माहौल भी तैयार करते हैं। पारस्परिक सहमति तब बनती है जब श्रोता बात को समझते हैं और कार्यक्रम को लेकर एक तरह की आम राय कायम हो जाती है।

पिछले पांच साल के अपने अनुभव से हमने पाया कि संचार का बेहतरीन रूप अंतर–वैयक्तिक यानी प्रत्यक्ष संचार है। इसमें संचार में लगा व्यक्ति लोगों से सीधे, उन्हीं की भाषा में और सुनने वाले के माहौल में बात करता है। लोक मीडिया के सूचना, शिक्षा और संचार संबंधी उपकरण संचार को सुदृढ़ बनाते हैं और अनुकूल माहौल भी तैयार करते हैं। पारस्परिक सहमति तब बनती है जब श्रोता बात को समझते हैं और कार्यक्रम को लेकर एक तरह की आम राय कायम हो जाती है।

स्वच्छ भारत के संचार में भारतीय संस्कृति और परंपराओं के बारे में प्रधानमंत्री की गहरी समझ से बड़ी प्रेरणा मिली। इससे मिशन को ऐसा अनुकूल माहौल बनाने में मदद मिली जो व्यापक पैमाने पर व्यवहार परिवर्तन की पूर्व शर्त है।

स्वच्छ भारत मिशन में ऐसे कई उदाहरण हैं, लेकिन मैं 30 जून, 2019 की 'मन की बात' का ज़िक्र करना चाहूंगा। देश में पानी की किल्लत के बारे में हर कोई जानता है। कितने अच्छे तरीके से प्रधानमंत्री लोगों को प्रेरित करते हैं और व्यक्तियों, जन समुदाय, लोक माध्यम के साधनों, हमारी परंपराओं और चेतना को आपस में जोड़ते हैं, उसका एक उदाहरण देखिए।

अपने भाषण में उन्होंने कहा, 'हमें जल–संरक्षण के लिए भी एक जनांदोलन शुरू करना चाहिए। हमें मिलकर यह संकल्प लेना चाहिए कि पानी की हर बूंद की रक्षा करेंगे और मेरा मानना है कि पानी हमारे लिए ईश्वर का प्रसाद है, पानी 'पारस' पत्थर की तरह है! पहले यह कहा जाता था कि 'पारस' पत्थर के स्पर्श से लोहे को सोने में बदला जा सकता है। मैं आपको बताना चाहता हूं कि पानी सचमुच 'पारस' पत्थर है। इसके स्पर्श मात्र से जन्म और पुनर्जन्म होता है।'

इसके बाद उन्होंने जीवन के तमाम क्षेत्रों से संबंधित लोगों से अपील की, 'मैं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के जाने–माने लोगों से अपील करता हूं कि वे पानी को बचाने के नवाचार पर आधारित अभियानों से जल–संरक्षण को बढ़ावा देने के कार्य का नेतृत्व करें। चाहे फिल्म जगत के लोग हों, खेल–कूद से जुड़े हों, हमारे मीडिया के दोस्त हो, सामाजिक संगठनों के लोग हो, सांस्कृतिक संगठनों से जुड़े लोग हो, या कथा–कीर्तन जैसे धार्मिक कार्यक्रमों के आयोजन में लगे लोग हो, सबको इस आंदोलन का अपने तरीके से नेतृत्व करना चाहिए। हमें समाज को जागरूक बनाना चाहिए, समाज को एकजुट करना चाहिए और समाज को इस बड़े कार्य से जोड़ना चाहिए। आप देखेंगे कि अपनी आंखों के सामने ही बदलाव होते दिखने लगे हैं।'

कृपया ध्यान दें कि सांस्कृतिक पहलुओं पर उनका ज़ोर कितना मज़बूत है। इसके बाद उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे भारत के पारंपरिक ज्ञान का उपयोग करें। उन्होंने कहा, 'मैं आप सबसे अनुरोध करता हूं कि आप जल–संरक्षण की इन पारंपरिक विधियों के बारे में जानकारी साझा करें। अगर आपमें से किसी को पूज्य बापू के जन्म स्थान पोरबंदर जाने का अवसर मिले तो उनके घर के पीछे एक और घर है जहां अब भी दो सौ साल पुराना तालाब है। इसमें अब भी पानी जमा किया जा सकता है और वर्षा जलसंचय किया जा सकता है! जैसाकि मैं हमेशा कहता रहा हूं कि जो भी कीर्ति मंदिर जाता है, उसे कीर्ति मंदिर का यह तालाब अवश्य देखना चाहिए। हमारे पूरे देश में जल–संरक्षण के प्रयोग से संबंधित इस तरह के कई उदाहरण हो सकते हैं!'

इसके बाद उन्होंने अनुकूल माहौल बनाने की बात कही और सबसे आग्रह किया कि वे आंदोलन में शामिल हो जाएं और सूचनाओं का भंडार तैयार करें, 'आप लोगों से मेरा तीसरा अनुरोध यह है कि ऐसे लोगों से संबंधित सूचनाएं साझा करें जो जल–संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। जल–संरक्षण में लगे स्वयंसेवी संगठन और इस क्षेत्र में कार्य कर रहे अन्य सभी को पानी को बचाने के काम के प्रति समर्पित सभी लोगों और संगठनों का विशाल डेटाबेस तैयार करने में योगदान करना चाहिए। आइए, हम सब जल–संरक्षण के कार्य में शामिल हों और अपने आप को पानी के संरक्षण के लिए लोगों को प्रेरित करने के नए से नए तौर–तरीकों की सूची तैयार करने के कार्य में अपने आप को जोड़ें।'

इस प्रकार जब वह कहें कि हर एक को अपने तरीके से इस आंदोलन का नेतृत्व करना चाहिए तो हमें समाज को जगाना होगा।

3. Mathiyazhagan, T.ek.al., ट्रेडिशनल मीडिया ऑफ कम्युनिकेशन, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सोशल साइंस, खंड–4, सं. 1, मार्च 2015, P 159-169

समाज को एकजुट करो और समाज को भी इस प्रयास में शामिल करो। वे अभिव्यक्ति की आत्मा को आज़ाद कर रहे हैं और इस तरह लोगों से आग्रह कर रहे हैं कि वे सभी संभावित माध्यमों का नेटवर्क तैयार करें।

स्वच्छ भारत के सूचना, शिक्षा और संचार ने भी इसी के अनुसरण का प्रयास किया है।

स्वच्छ भारत मिशन और लोक मीडिया

तीन साल पहले उत्तराखंड की अपनी यात्रा में ज़िले की सूचना, शिक्षा और संचार टीम मुझे दूरदराज गांव में लेकर गई। यह सबसे नज़दीक की सड़क के एक छोर से कुछ ही किलोमीटर ऊपर के पहाड़ पर स्थित था। स्थानीय स्वच्छाग्रहियों द्वारा कुंमाऊनी बोली में आयोजित जागरूकता कार्यक्रम के बाद अचानक परंपरागत छोलिया नर्तक वहां उपस्थित हो गए।

नासिक, महाराष्ट्र में आयोजित एक जन जागरुकता कार्यक्रम

छोलिया नृत्य स्थानीय शादी–विवाह में बड़ा प्रचलित है। चटक रंगों में बेतरतीब तरीके से सिले गए रंगबिरंगे फ्रॉक और पायजामा पहने तथा सिर पर सफेद साफा बांधे नर्तक वहां अचानक प्रकट हो गए। उनके एक हाथ में तलवार और एक में ढाल थी। ये लोग गाते, नृत्य करते और तलवारबाजी की नकली लड़ाई से बरातियों का मनोरंजन करते हैं। छोलिया नृत्य होने का समाचार जंगल की आग की तरह चारों ओर फैल गया और चंद मिनटों में सैकड़ों महिलाएं, बच्चे और पुरुष उस स्थान पर एकत्रित हो गए। इस तरह स्वच्छ भारत मिशन का सूचना, शिक्षा और संचार कार्यक्रम हो रहा था, छोलिया नर्तक नकली लड़ाई लड़ रहे थे, वे नृत्य कर रहे थे और धुनें स्वच्छता गीत की बज रही थीं जिसे स्थानीय रागों में बनाया गया था। उनके प्रदर्शन का प्रभाव हमारी कल्पना से काफी परे की चीज था। 1–2 महीनों बाद मुझे खबर मिली कि गांव खुले में शौच की बुराई से मुक्त हो चुका है।

इस तरह की घटनाएं देश भर में लगभग सभी ग्राम पंचायतों में हो रही थीं। स्वच्छाग्रही लोक चित्रकला की सभी शैलियों और सभी माध्यमों जैसे कथा–कीर्तन, नौटंकी, तमाशा, जात्रा आदि का उपयोग कर रहे थे। खुले में शौच के स्थानों को साफ कर और वहां तुलसी के पौधे रोंप कर महिलाओं, बालिकाओं और बच्चों के लिए रंगोली, ज्योति और ऐपण (एक पारंपरिक चित्रशैली जिसमें चावल के आटे के घोल का उपयोग किया जाता है) प्रतियोगिताएं आयोजित की जाने लगीं। ओडिशा के ज़िलों में परिमल घटनाद (स्थानीय वाद्ययंत्र) का घोष किया गया।

कुछ अन्य उल्लेखनीय उदाहरण

गर्भावस्था के उत्तरार्ध में गर्भवती महिला को सम्मानित करने की भारतीय परंपरा का अनुसरण करते हुए कर्नाटक के कलबुर्गी जैसे ज़िलों में कूसु नाम की पहल की गई। कूसु का शाब्दिक अर्थ है–शिशु। इस अभियान का उद्देश्य महिलाओं में साफ–सफाई के तौर–तरीकों को बढ़ावा देना था। इसके अंतर्गत एक छोटा–सा कार्यक्रम तैयार किया गया जिसमें प्रसव–पूर्व जांच के बाद ऐसी गर्भवती महिलाओं को सम्मानित किया गया जिनके घरों में शौचालय बने थे और शिशु को नहलाने–धुलाने की रस्म का आयोजन स्थानीय ग्राम पंचायत ने ही किया।

महाराष्ट्र के कुछ ज़िलों में स्वच्छता को बढ़ावा देने के लिए गणेश चतुर्थी पर स्वच्छ बैल पोल, स्वच्छ गणेशोत्सव, स्वच्छ गौरी पूजन आदि का आयोजन किया गया। दुर्गा पूजा समारोह के दौरान बिहार में देवी दुर्गा (देवी का रूप धारण किए एक बच्ची) शौचालयों वाले प्रत्येक घर में गई। पूजा–पंडालों में स्वच्छता संदेश भी प्रसारित किए गए।

व्रत करने की भारतीय परंपरा का पालन करते हुए राजस्थान में बारां जिले के 30 सरपंचों ने अपने गांव के खुले में शौच की बुराई से मुक्त हो जाने तक दिनभर में सिर्फ एक बार भोजन ग्रहण करने की शपथ ली। शुरू में इस अभियान की सफलता को लेकर संदेह था लेकिन जब उन्होंने पंचायत प्रमुख के दृढ़ संकल्प को देखा तो वे भी इसमें शामिल हो गए।

झारखंड में सांस्कृतिक उत्सवों के दौरान ग्राम ओडीएफ घोषणा कार्यक्रम का आयोजन किया गया। दिनभर के इस आयोजन में स्थानीय खेल–कूद प्रतियोगिताओं, लोकनृत्यों और लोकगीतों के कार्यक्रमों के ज़रिए स्वच्छता का संदेश प्रचारित–प्रसारित किया गया। मध्य प्रदेश में लड़कों की वानर सेना ने सामूहिक रूप से खुले में शौच के लिए इस्तेमाल किए जाने वाले स्थानों की रोज़ाना निगरानी की। भगवान राम की पौराणिक सेना से प्रेरणा लेकर बनाई गई बच्चों की इस वानर सेना ने खुले में शौच की बुराई के लिए स्थानीय समुदायों की ज़िम्मेदारी तय की।

परंपराओं का फायदा उठाने में सबसे बड़ी सफलता 24 फरवरी, 2019 को 'स्वच्छ कुंभ, स्वच्छ आभार' कार्यक्रम से मिली।

व्यक्तिगत संपर्क के एक कार्यक्रम में प्रधानमंत्री ने कुंभ मेले में काम कर रहे पांच सफाई कर्मचारियों के पांव धोकर और उन्हें पोंछकर उनके प्रति सम्मान व्यक्त किया और उन्हें सम्मानित किया।

स्वच्छ भारत मिशन अपने करीब 6 लाख स्वयंसेवकों की मदद से इन सभी आयोजनों को एक सूत्र में पिरोने में कामयाब रहा। स्वयंसेवकों को यह नाम प्रधानमंत्री ने स्वयं दिया था। राज्यों में हजारों स्वच्छता रथ चलाए गए जो देश के गांव–गांव में पहुंचे। आमतौर पर मिनी ट्रकों से बनाए गए इन रथों में एलईडी पैनल, ऑडियो सिस्टम आदि लगे हुए थे और इनमें नुक्कड़ नाटक मंडलियां तथा लोक कलाकार सवार रहते थे। ये रथ समाज के सदस्यों के साथ संपर्क साधने, लोककलाओं का उपयोग करने, समाज के सदस्यों के साथ अंतर–वैयक्तिक बातचीत और उन्हें सूचना, शिक्षा तथा संचार के रचनात्मक उपयोग से बने कार्यक्रम दिखाने में बड़े कारगर साबित हुए। लोक जनसंचार माध्यमों का उपयोग करके स्वच्छता के संदेश को करोड़ों लोगों तक पहुंचाने में भी उन्हें जबर्दस्त कामयाबी मिली।

स्वच्छ भारत मिशन ने इस तरह के प्रत्येक अवसर और उत्सव का उपयोग संदेश के प्रचार–प्रसार के लिए करने का फैसला किया। बैसाखी, ओणम, पोंगल, बसंत पंचमी/सरस्वती पूजा, शिवरात्रि, होली, नवरात्रि, ईद, ईस्टर, बुद्ध जयंती, महावीर जयंती, रामनवमी, रक्षाबंधन, विजयदशमी, दिवाली, गुरु पूर्णिमा, क्रिसमस जैसे विभिन्न पर्वों को स्वच्छता से जोड़ा गया और इन्हीं के अनुसार उपयुक्त मीडिया का आकलन कर व्यापक पैमाने पर जागरूकता बढ़ाने के कार्यक्रम आयोजित किए गए। स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस और गांधी जयंती जैसे राष्ट्रीय समारोहों से पहले भी 'गंदगी से आज़ादी' सप्ताह, 'गंदगी मुक्त भारत' और 'स्वच्छता ही सेवा' जैसे आयोजन किए गए।

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस, विश्व जल दिवस, चंपारन सत्याग्रह दिवस, अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस, विश्व हस्त प्रक्षालन दिवस, पंचायती राज दिवस, अंत्योदय दिवस, शिक्षक दिवस, बाल दिवस, विश्व शौचालय दिवस और सुशासन दिवस जैसी कैलेंडर की महत्वपूर्ण तारीखों का फायदा उठाकर इनका उपयोग स्वच्छ शक्ति, चलो चंपारन, ग्राम आप्लावन कार्यक्रम, शौचालय आपका अधिकार, मुझे शौचालय चाहिए, शौचालय निर्माण अभियान और विद्यार्थियों के लिए कार्यक्रमों के आयोजन के लिए किया गया।

स्वच्छ भारत संचार अभियान की सफलता का एक अन्य महत्वपूर्ण आधार भी है जो लोक मीडिया को इलेक्ट्रॉनिक/सोशल मीडिया तथा बड़े पैमाने पर आयोजित किए जाने वाले आयोजनों के साथ समन्वित करने से संबंधित है। उदाहरण के लिए सेल्समैन शौचा सिंह के इर्द–गिर्द एक लोकप्रिय रेडियो प्रचार अभियान तैयार किया गया। गांवों की हर एक हाट, हर मेले यहां तक कि बस यात्री भी शौचालयों में इस्तेमाल होने वाले सामान के इस वाचाल व्यापारी को जानते हैं। शौचा सिंह ने ऐसे ठेठ बातूनी सेल्समैन की बोली और लहज़े में उन आम धारणाओं को तोड़ा जो खुले में शौच की बुराई को समाप्त करने में बड़ी बाधा थीं।

संक्षेप में, करोड़ों भारतीयों में व्यवहार परिवर्तन लाने में स्वच्छ भारत मिशन की सफलता का एक कारण यह था कि इसमें लोक स्थानीय मीडिया को आधुनिक टेक्नोलॉजी के साथ जोड़ने और बड़े पैमाने पर जनता की भागीदारी हासिल करने में बढ़–चढ़कर और दूरदर्शी तरीके से उपयोग किया गया।

इसलिए अगर हम पारंपरिक मीडिया को विकास संचार के कारगर औज़ार के तौर पर इस्तेमाल करना चाहते हैं तो हमें न सिर्फ उपयुक्त लोक मीडिया, कलाकारों तथा भाषा जैसे सूक्ष्म तकनीकी बिंदुओं का चुनाव और उनके बारे में फैसला करना होगा बल्कि उन्हें आधुनिक संचार टेक्नोलॉजी और सहायक उपकरणों के साथ जोड़ना होगा। लेकिन शौचालयों के उपयोग जैसे बड़े पैमाने के कारगर व्यवहार परिवर्तन के लिए हमारे पास समर्पित होकर कार्य करने वाले ऐसे स्वयंसेवकों की फौज भी ज़मीन पर तैयार होनी चाहिए जो इस ज्योति को प्रज्ज्वलित रख सके।

(लेखक जलशक्ति मंत्रालय में निदेशक, (सूचना, शिक्षा और संचार), स्वच्छ भारत मिशन हैं। इन्हें 2018 में स्वच्छ भारत मिशन में लोक प्रशासन में उत्कृष्ट कार्य के लिए प्रधानमंत्री पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। लेख में व्यक्त विचार निजी हैं।)

ई–मेल : hiyugal@gmail.com

भारतीय लोककला और संस्कृति का संरक्षण ज़रूरी

–हेमंत मेनन

कलारूपों को लोगों तक ले जाने के बजाय 'देखो अपना देश' जैसी पहलें लोगों को अपनी जड़ों की ओर लौटने में मदद करेंगी, दूसरों की सराहना में सहायक होंगी और वास्तविक परिवेश में उनका अनुभव कराएंगी ताकि संस्कृति के पथ–प्रदर्शकों को अवसरों की खोज में अपने आवास से पलायन न करना पड़े। यह महत्वपूर्ण है कि संस्कृति को सबसे पहले उसके उत्पत्ति–स्थल के आसपास संरक्षित किया जाता है, फिर देश के अन्य भागों में इसके प्रति जागरूकता पैदा होती है और तब जाकर अंतर्राष्ट्रीय–स्तर पर इसके प्रदर्शन की योजना बनाई जाती है।

विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में गिने जाने वाले देश भारत ने, जिसकी एक समृद्ध और विविध सांस्कृतिक विरासत है और जहां विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण है, सदैव अपनी सांस्कृतिक विरासत को वैश्विक प्रदर्शन के एक अभिन्न पहलू के रूप में संजोये रखा है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न कलाओं के अपने प्रचार में निरंतरता बनाए रखते हुए भारत अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा के लिए यूनेस्को की अंतर–शासकीय समिति की आगामी बैठक का आशापूर्वक और उत्सुकता से इंतज़ार कर रहा है। इस बैठक में मानव जाति की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की प्रतिनिधि सूची में 'दुर्गा पूजा' को शामिल करने के बारे में निर्णय लिया जाएगा। गत वर्ष संस्कृति मंत्रालय ने अपने विज़न 2024 के भाग के रूप में भारत की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (आइसीएच) की राष्ट्रीय सूची का मसौदा तैयार किया था। इसका उद्देश्य इसके माध्यम से भारत के विभिन्न राज्यों से विभिन्न अमूर्त सांस्कृतिक विरासतों के बारे में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय–स्तर पर जागरूकता बढ़ाना है जिससे उनकी सुरक्षा और संरक्षण सुनिश्चित किया जा सके। आइए, इन बदलती परिस्थितियों में हम अंतर्राष्ट्रीय–स्तर पर पारंपरिक भारतीय लोककला और संस्कृति का प्रदर्शन करने की प्रबल आवश्यकता पर विचार करें।

सरोकारों से पूर्व परिभाषित करना आवश्यक

लोक की अवधारणा को सामान्य अर्थ में परिभाषित करने के लिए विद्वानों, भाषाविदों, कलाकारों, राजनेताओं, नीति निर्माताओं आदि द्वारा कई प्रयास किए गए हैं। किसी भी अवधारणा को यथासंभव निष्पक्ष रूप से समझने के लिए इस तरह का अभ्यास आवश्यक है। भारत में अधिकांश भाषाओं में 'लोक' शब्द का अर्थ मोटे तौर पर समुदाय के बोध से मेल खाता है। भाषाओं और बोलियों के बढ़ने और सामाजिक समूहों और उनकी परंपराओं की बदलती अभिव्यक्तियों के साथ लोक की अवधारणा स्वयं को नए रूप में ढालती है जिसके कारण भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसका सामान्यीकरण करना वास्तव में कठिन है। लेकिन यह तब भी हमारी सांस्कृतिक

विरासत के आधार की ताकत है जिससे 'विविधता में एकता' के सिद्धांत को बल मिलता है।

बदलते हुए रिवाज़ों के साथ जैसा देखा गया है, भारत में हर जगह यात्रा करते समय बेशुमार सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां स्वयं उजागर होती हैं। आज भी शोधकर्ता हमारी लोक–संस्कृति से संबंधित हर पहलू को बेहद सटीक रूप से समझने के लिए कड़ी मेहनत कर रहे हैं। सर्वसमावेशी वर्गीकरण बनाने के प्रयास के दौरान विभिन्न लोकविधाओं के बीच निश्चित रूप से घनिष्ठ समानता को देखा जा सकता है। लेकिन लोक–संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट भाव स्वयं को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है और इसे अन्य कला रूपों से अलग करता है। मिसाल के तौर पर लोकनृत्य– गोवा का घोड़े मोदिनी, तमिलनाडु का पोइक्काल कुतिरयाट्टम और राजस्थान का कच्छी घोड़ी सभी एक जैसे दिख सकते हैं, कम से कम दिखने में तो। घोड़े मोदिनी को राजपूत वेशभूषा धारण किए गोवा के योद्धाओं की प्रशंसा में प्रदर्शित किया जाता है जिन्होंने पुर्तगालियों के खिलाफ विकट संघर्ष किया था और साथ ही इसे गांवों से चोरों को बाहर खदेड़ने के लिए भी किया जाता है। दूसरी ओर, कच्छी घोड़ी विवाह आयोजनों में लोक संचार विधा का उपयोग है जिसके द्वारा भांवरिया डाकू के किस्सों को सुनाया जाता है जबकि पोइक्काल कुतिरयाट्टम राजाओं और रानियों की वेशभूषा में अय्यंनार की पूजा से संबद्ध है जिसमें कलाकार घंटों कलाबाज़ियों में लिप्त रहते हैं।

> अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने के लिए लोक–संस्कृति की बढ़ती मार्केटिंग के प्रयासों में लोककलाओं को प्रदर्शित करने और लोकप्रिय बनाने के लिए एक अधीरता होती है जो इसकी मौलिकता और विशिष्टता को संरक्षित किए बिना किया जाता है और यह किसी भी लोककला के अनूठेपन और विशेषता को छीन सकता है। यह कलाओं को नज़रअंदाज करने से ज्यादा खतरनाक है।

भारत में लोक परंपरा में मौजूद विविधता को प्रभावी ढंग से दर्शाने के लिए ऐसे कई उदाहरण ों का उल्लेख किया जा सकता है। लेकिन राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय–स्तर पर ऐसी विधाओं का प्रदर्शन करने के प्रयास के दौरान बाधाएं आती हैं। शास्त्रीय कलाओं को तो सुगमता से व्यवस्थित किया जा सकता है लेकिन अत्यधिक विविधता के कारण लोककलाओं की विशिष्ट पहचान स्थापित करना कुछ कठिन है। संस्कृति के शास्त्रीय, लोक, जनजातीय और कला विधाओं में सुगम और सुविधाजनक श्रेणियों में वर्गीकरण ने एक ऐसा गोलमाल पैदा किया है, जिसने एक सीमा तक तथाकथित "कम प्रबुद्ध " को इसके मौलिक स्वरूप में सराहना करने से रोक दिया है। दुर्भाग्यवश इसके कारण शास्त्रीय के अलावा अन्य कलारूपों को प्रदर्शनियों और पाठ्यपुस्तकों में अवशेषों का दर्जा मिला है जबकि उनकी उत्पत्ति मूल रूप से अनुष्ठानों, समारोहों और परंपराओं द्वारा हुई है।

शास्त्रीय के साथ लोक के संबंधों का पुनर्जागरण

शास्त्रीय कलाओं के मूल को भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' में देखा जा सकता है जिसे सबसे पहले 200 ईसा पूर्व से 200 ईसवीं सन् के बीच संकलित किया गया था। फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि इसमें किसी भी कला का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है और न ही स्वाभाविक रूप से कला के स्तर–विन्यास का भी कोई उल्लेख है। वर्षों से कई दूरदृष्टा इन ग्रंथों के आधार पर कुछ कला रूपों के आलेखन और उन्हें संहिताबद्ध करने के प्रयास में आगे आए हैं जिससे वे अधिक इच्छुक शिक्षार्थियों के लिए सुलभ हो गए हैं। यह संस्कृति के संरक्षण के आरंभिक साधन भी थे। ये मॉडल संहिता न केवल कलाकारों द्वारा बल्कि भाषाविदों द्वारा भी पाठ की भाषा और व्याकरण का विश्लेषण करने के लिए उपयोग में लायी जाती थी। विद्वानों और कला पारखियों ने कलारूपों के विन्यास और रुझानों को बेहतर ढंग से समझने के लिए उनका उपयोग किया। इसके चलते विद्वान दर्शकों या रसिकों की रचना हुई। नंदिकेश्वरा रचित अभिनय दर्पण या सारंगदेव रचित संगीत रत्नाकर जैसी पुस्तकों के माध्यम से ये 'सुसंस्कृत' दर्शक कला की समझ हासिल कर सके और इस दौरान कई अवरोध खंडित हुए। भारतीय उपमहाद्वीप के राजा–महाराजाओं से प्राप्त संरक्षण ने कलाकारों के लिए दरबारों में प्रवेश प्रशस्त किया।

समानांतर परिदृश्य में लोगों ने कला को एक दृष्टिकोण से देखा और समझा, जो उन्हें जीवन से ही जोड़ता था। उनके लिए तड़क–भड़क वाले दरबार, राजसभाएं और रंगभूमि तक पहुंच बहुत दूर थी। इसके बजाय उन्होंने खेतों, पेड़ों के तले चबूतरे, मेला, मैदानों, मवेशियों के बाड़ों को कला के पोषण–स्थलों में बदल दिया। जबकि कुछ गायन और नृत्य की ओर अग्रसर हुए तो अन्य ने संबद्ध सहायक साधनों की रचना की जिन्होंने अभिव्यक्ति के अधिक रूपों को पनपने के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। इन रूपों का आशय दरबारी रूपों से भिन्न था। उन्होंने प्रकृति के साथ अपने जीवन, सामाजिक संबंधों, काम और धार्मिक जुड़ावों को बारीकी से दर्शाया। उदाहरण के लिए छत्तीसगढ़ में गोंडों के एक समुदाय भिम्मा ने अपने इष्टदेव तीसरे पांडव भीम से वर्षा के लिए प्रार्थना के लिए एकल सिर वाले बड़े नगाड़े बजाए। कई लोकसंगीत रचनाओं और नृत्य रूपों के समान उद्देश्य थे।

उपनिवेशवाद ने एक सीमा तक इस विशिष्टता को सुगम बना दिया। तब भारत में शास्त्रीय कला रूपों पर प्रतिबंध लगाने में नृत्य–विरोधी आंदोलन न केवल सफल रहा बल्कि तत्कालीन प्रतिबंधित विधाओं की ओट में लोककला रूपों को शामिल करने में भी सफल रहा। अपनी–अपनी विचारधाराओं के अनुरूप उत्पन्न पुनर्जागरण आंदोलनों ने ज्यादातर प्रतिबंधित रूपों पर ध्यान केंद्रित किया। समय के साथ न केवल ये आंदोलन कमज़ोर हुए बल्कि उन्होंने मुख्यधारा के कला प्रेमियों से भी आग्रह किया कि वे कला के अन्य रूपों पर अपना ध्यान न दें। समर्थन और प्रोत्साहन की कमी और उसके फलस्वरूप लोकप्रियता और पर्याप्त मान्यता में कमी के कारण लाई हरोबा, विलासिनी नाट्यम, बोर गीत, गौड़ीय नृत्य, हरि कथा, महरी, कुचिपुड़ी यक्षगान, कृष्णनाट्टम, रान्मेल, होजागिरी जैसे कई कला रूप अपने उत्पत्ति स्थानों से जुड़ी भौगोलिक सीमाओं तक सीमित रह गए।

वर्तमान में भारत में 2500 से अधिक जनजातियां और जातीय समूह हैं जिनमें मान्यता प्राप्त और गैर–मान्यता प्राप्त दोनों शामिल हैं। संगीत, नृत्य, शिल्प और चित्रों सहित कला ने इन समूहों में अपना घर बनाया और हज़ारों कलारूपों को जन्म दिया; फिर भी कुछ ही मुख्यधारा कला में शामिल हो पायी। गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए मूल्यांकन और मापदंडों की मानक संहिताओं की बेहतर उपलब्धता के कारण अन्य की अपेक्षा शास्त्रीय कलाओं को संरक्षित करने के लिए अधिक प्रयास किए गए हैं। इसमें अन्य कलारूपों को और अधिक आर्थिक रूप से पुरस्कृत और लोकप्रिय कला रूपों से प्रेरणा लेने के लिए दबाव डाला गया और इस प्रक्रिया में मौलिकता से समझौता किया गया जबकि वास्तव में यह बताना मुश्किल है कि कहां 'लोक' का अंत होता है और 'शास्त्रीय' आरंभ होता है; भले ही सीमांकन कितना भी व्यवस्थित क्यों न हो।

इसका यह अर्थ नहीं है कि आज पारंपरिक भारतीय लोक–संस्कृति पूरी तरह से उपेक्षित है। सरकारी–तंत्र के विभिन्न विभागों ने अपनी–अपनी क्षमताओं के अनुरूप लोक–संस्कृति के साथ–साथ अन्य शास्त्रीय कलारूपों को वैश्विक परिदृश्य में लाने का पूरा प्रयास किया है। लोककलाओं को प्रोत्साहन देने के लिए लागू की गई योजनाओं और नीतिगत निर्णयों की संख्या में पिछले एक दशक में वृद्धि हुई है। संस्कृति मंत्रालय के माध्यम से भारत सरकार, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के माध्यम से विदेश मंत्रालय, पर्यटन मंत्रालय, अल्पसंख्यक मामलों के मंत्रालय ने पारंपरिक लोककला और संस्कृति के प्रचार के लिए सक्रिय रूप से कदम उठाए हैं। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के माध्यम से कला के प्रचार के लिए पिछले छह वर्षों में ही 1267.71 करोड़ रुपये विभिन्न एजेंसियों को अनुदान सहायता के रूप में खर्च किए गए (भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् रिपोर्ट, 2014–2020)।

सरकार ने सेनेगल, कोटे डी आइवर, लिकटेंस्टाइन, कोरिया और यूक्रेन जैसे देशों में 'फेस्टिवल ऑफ इंडिया एब्रोड' और 'नमस्ते इंडिया' का आयोजन किया है। संस्कृति चैनल, वर्चुअल म्यूज़ियम और भारतीय संस्कृति पोर्टल सहित आईसीटी की पहलों ने विदेशों में कला और कला प्रेमियों के बीच की दूरी को कम करने की कोशिश की है। विदेश मंत्रालय द्वारा तीन सप्ताह का एक उन्मुखीकरण कार्यक्रम 'भारत को जानिए' ने भारतीय संस्कृति और विरासत के साथ खुद को परिचित करने के लिए युवा प्रवासियों के लिए एक अनूठा मंच तैयार किया है। सांस्कृतिक संबंधों का संवर्धन (पीसीटीडी) योजनाएं, विभिन्न स्मरणोत्सव और पर्व, सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना/जीर्णोद्धार जैसे श्रीलंका के जाफना में हाल में स्थापित केंद्र ने अंतर्राष्ट्रीय–स्तर पर पारंपरिक भारतीय संस्कृति के प्रदर्शन की सुविधा प्रदान की है। भारत ने सांस्कृतिक आदान–प्रदान और संवर्धन के लिए अन्य देशों के साथ कई द्विपक्षीय समझौतों पर हस्ताक्षर किए हैं। पटियाला, नागपुर, उदयपुर, प्रयागराज, कोलकाता, दीमापुर और तंजावुर में मुख्यालय के साथ स्थापित सात क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्रों के माध्यम से विभिन्न योजनाओं ने भी इस प्रयास में मदद का हाथ बढ़ाया है।

2015 से 'एक भारत श्रेष्ठ भारत' अभियान के तहत ग्यारह राष्ट्रीय सांस्कृतिक महोत्सवों का आयोजन किया गया है। लोककला

दर्शन, लोकनृत्य भारत भारती, आदिवासी नृत्य महोत्सव, लोक रंगमंच महोत्सव, लोक ज्ञान परंपरा जैसे फ्लैगशिप कार्यक्रमों ने भी लोक–संस्कृति के संरक्षण और प्रोत्साहन देने के लिए एक उत्प्रेरक का काम किया है। शास्त्रीय के साथ लोक के संबंधों को काफी हद तक बचाया जा सकता है यदि सभी 38 कार्यरत भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् केंद्रों में शास्त्रीय कला, भाषाओं और योग के साथ लोक और जनजातीय संस्कृति को स्थान मिले।

इस तरह के तमाम प्रयासों के बावजूद और इस तथ्य पर इतना बल देने के बाद कि किस प्रकार परंपराओं से जुड़ी लोक–संस्कृति की उत्पत्ति हुई; यह विचार करना बहुत स्वाभाविक है कि संस्कार या परंपरा जैसी व्यक्तिगत विधा को संरक्षण के नाम पर लोगों के समक्ष 'प्रदर्शित' करने की क्या आवश्यकता है?

प्रदर्शन का विरोधाभास

अधिकतर सामान्य जन जो शास्त्रीय–लोक द्विभाजन की जटिलता से दूर रहते हैं, का आमतौर पर मानना है कि कम लोकप्रिय लोकरूपों के साथ उन्होंने जुड़ाव महसूस नहीं किया। जैसाकि पहले उल्लेख किया गया है। ग्रामीण और आदिवासी लोककला आम आदमी की नैसर्गिक जीवनशैली से उपजी है और यह ज़रूरी नहीं कि उसका प्रयोजन रंगभूमि प्रदर्शन के लिए था। इसलिए ऐसी विधाओं को बढ़ावा देते समय अतिरिक्त सावधानी बरतनी चाहिए। संस्कृति को बढ़ावा देने का उद्देश्य उसका संरक्षण है। जब कला को बढ़ावा देने का संकल्प लिया जाता है तो उसमें जल्दबाज़ी की भावना होती है। यह जल्दबाज़ी उन्हें प्रयासों को तेजी से आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रक्रिया के दौरान कला विधा के जटिल और अमूर्त तत्व उपेक्षित हो जाते हैं जिसके कारण आज प्रत्येक लोककला विधा की भव्यता और विलक्षणता घट गई है।

वैश्वीकरण का मंतव्य दुनिया को आपके घर तक लाना था। भारत के कई स्थानों और उत्सवों में विश्व की रूचि उत्पन्न होने की अपार संभावनाएं हैं। इसके माध्यम से पर्यटन और अर्थव्यवस्था के द्वार व्यापक रूप से प्रशस्त होते हैं। ऐसे स्थानों और पर्वों में प्रामाणिकता के भाव को तब यथासंभव लाया जाता है जब पारंपरिक लोक–संस्कृति को भी उजागर किया जाता है।

अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने के लिए लोक–संस्कृति की बढ़ती मार्केटिंग के प्रयासों में लोककलाओं को प्रदर्शित करने और लोकप्रिय बनाने के लिए एक अधीरता होती है जो इसकी मौलिकता और विशिष्टता को संरक्षित किए बिना किया जाता है और यह किसी भी लोककला के अनूठेपन और विशेषता को छीन सकता है। यह कलाओं को नज़रअंदाज करने से ज्यादा खतरनाक है। संस्कृति के एक अंश को दिखाने की प्रक्रिया में इस पर अनेक दबाव पड़ते हैं, इसे और अधिक आकर्षक बनाने का तनाव, एक विदेशी वातावरण में इसे पेश करने का तनाव आदि। भारत में संरक्षण शायद पारंपरिक जनजातीय और लोकचित्र एवं हस्तकला ही सीमित है। संरक्षकों और पुरातत्वविदों ने जीवंत और रंगबिरंगे कलारूपों के संरक्षण की दिशा में एक सराहनीय कार्य किया है। ऐसा इसलिए हो सकता है क्योंकि सौंदर्यबोध और प्रामाणिकता के कारण इनकी अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में मांग है। इन प्रयासों ने गंजिफा पेंटिंग, भील पेंटिंग, रोगन आर्ट, चंपा रूमाल जैसे कलारूपों की लोकप्रिय संस्कृति में वापसी में मदद की है। भारत में परिवहन केंद्र जैसे मेट्रो स्टेशन और हवाई अड्डे भी यात्रियों को विभिन्न कला रूपों को संरक्षित करने और उनके प्रति संवेदनशील बनाने के लिए आगे आए हैं। एक सीमा तक इन प्रयासों ने भारत को अपनी ललित, लोक और जनजातीय कला के संरक्षण अभियान में मदद की है। लेकिन ऐसे प्रयास केवल दृश्य कला के लिए ही व्यावहारिक है। बाउल संगीत, सोपान संगीत, थेय्यम, गुरबानी और कव्वाली जैसे पावन रूपों को अपने मूल पवित्र रूप में संरक्षित करने की आवश्यकता है न कि कलाकार–दर्शक व्यवस्था में सांस्कृतिक प्रस्तुति के रूप में। बिहू, झिझिया, कालबेलिया जैसे सामाजिक रूप से प्रासंगिक कलारूपों को प्रोत्साहन देने से दर्शक इन कलारूपों के सुदृढ़ स्वरूप के प्रति सुग्राही बनेंगे।

कई पारंपरिक संस्कृतियों का विध्वंस युद्ध और शहरी क्षेत्रों में प्रवास की उत्कट इच्छा, जहां अधिक व्यवस्थित और विश्वसनीय जीवनयापन किया जा सकता है, के कारण हुआ है। नीतियों को लागू करने और संचार सुविधाओं के उपयोग के माध्यम से लोकविधा को मुख्यधारा में लाने की कोशिश भी पारंपरिक क्षेत्र में इस मायने में अतिक्रमण है, जो उन अवरोधों को दूर कर देता है जिनसे कभी उनकी रक्षा होती थी। लेकिन दुविधा तब पैदा होती है, जब अतिक्रमण के बावजूद हमारी दृष्टि से ओझल होने से पहले ऐसे रूपों की स्मृति को संरक्षित करना संभव हो जाता है। यथास्थिति बनाए रखते हुए संस्कृति के संरक्षण का तर्क जारी है। एक और वैचारिक दुविधा भी है। एक कला रूप को अंतर्राष्ट्रीय–स्तर पर ले जाने का विचार शायद ही कभी शाब्दिक व्याख्या से परे लागू होता है। तब यह संस्कृति को एक विदेशी भूमि तक ले जाने तक सीमित हो जाता है।

वैश्वीकरण का मंतव्य दुनिया को आपके घर तक लाना था। भारत के कई स्थानों और उत्सवों में विश्व की रूचि उत्पन्न होने की अपार संभावनाएं हैं। इसके माध्यम से पर्यटन और अर्थव्यवस्था के द्वार व्यापक रूप से प्रशस्त होते हैं। ऐसे स्थानों और पर्वों में प्रामाणिकता के भाव को तब यथासंभव लाया जाता है जब पारंपरिक लोक–संस्कृति को भी उजागर किया जाता है। एक मॉडल केस कुंभ मेला है जो 2019 में आयोजित किया गया था। संस्कृति के संवर्धन और सुरक्षा के लिए ज़िम्मेदार विभिन्न एजेंसियां जिनमें संस्कृति मंत्रालय, संगीत नाटक अकादमी, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र, विभिन्न क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्र, स्पिक मैके शामिल थे, ने साथ मिलकर 'संस्कृति कुंभ' का आयोजन किया जिसमें विभिन्न रूपों में विभाजित कला को एक ही मंच पर लाया गया। अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की प्रतिनिधि सूची में मान्यता प्राप्त कुंभ मेले के माध्यम से कला के अन्य रूपों–मूर्त और अमूर्त को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया। इसलिए लेख की शुरुआत दुर्गा पूजा के संदर्भ में हुई जो यूनेस्को के विचाराधीन है। उपयुक्त परिवेश में संस्कृति का इतना वृहद् समागम संस्कृति को संरक्षित करने के प्रयासों को एक सीमा तक संवर्धित कर सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि उठाए गए प्रश्नों का समाधान हो गया है। उनका अभी भी परीक्षण किए जाने और समाधान की आवश्यकता है। क्या बढ़ावा देना है और कैसे बढ़ावा देना है, उसकी पहचान करने की प्रबल आवश्यकता है। तब तक संस्कृति के इस तरह के असंख्य रूपों को संरक्षित करने के तरीके को सही ढंग से समझने में काफी समय लगेगा और तदुपरांत प्रकाश की किरण दृष्टिगोचर होगी।

तो फिर समाधान क्या है? भागीदारी आंदोलन और दस्तावेजीकरण के लिए किए जा रहे प्रयास संस्कृति मंत्रालय के महत्वाकांक्षी सांस्कृतिक मानचित्रण पर राष्ट्रीय मिशन को सुगमता प्रदान कर सकते हैं। कलारूपों को लोगों तक ले जाने के बजाय 'देखो अपना देश' जैसी पहलें लोगों को अपनी जड़ों की ओर लौटने में मदद करेंगी, दूसरों की सराहना में सहायक होंगी और वास्तविक परिवेश में उनका अनुभव कराएंगी ताकि संस्कृति के पथ–प्रदर्शकों को अवसरों की खोज में अपने आवास से पलायन न करना पड़े। यह महत्वपूर्ण है कि संस्कृति को सबसे पहले उसके उत्पत्ति स्थल के आसपास संरक्षित किया जाता है, फिर देश के अन्य भागों में इसके प्रति जागरूकता पैदा होती है और तब जाकर अंतर्राष्ट्रीय–स्तर पर इसके प्रदर्शन की योजना बनाई जाती है। अपने क्षेत्रों में श्रेष्ठ विद्वानों और गुरुओं की अगुवाई में केवल लोककला और संस्कृति पर विशुद्ध रूप से ध्यान केंद्रित करने वाले विशेष संस्थानों की स्थापना से इनको बढ़ावा देने की प्रक्रिया को उत्प्रेरित किया जा सकता है और उनके माध्यम से लोक–संस्कृति को उसकी शुचिता से वंचित किए बिना संरक्षित किया जा सकता है। यही उचित समय है जब कला संरक्षण के उत्तरदायी विभिन्न हितधारकों को गुरुकुल स्थापित करके न केवल शास्त्रीय कलाओं अपितु लोककलाओं के संरक्षण को सुनिश्चित करने के प्रयास करने चाहिए जहां गुरुओं को इन परंपराओं को आने वाली पीढ़ियों को उनके मूल और शुद्धतम रूपों में विरासत में प्रदान करने की स्वतंत्रता होगी और उस कार्य में प्रशासनिक ढिलाई का प्रभाव नहीं होगा।

हमारी विरासत और संस्कृति हमें उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर सकती है लेकिन इसके लिए हमें इसे अंगीकार करने की आवश्यकता है और इससे पहले की बहुत देर हो जाए, आइए, हम इसकी शुरुआत की ओर अग्रसर हों।

(लेखक 'स्पिक मैके' की राष्ट्रीय कार्यकारी समिति के सदस्य हैं। लेख में व्यक्त विचार निजी हैं।)

ई–मेल : hemanth@spicmacay.com

लोकज्ञान और परंपरा जीवित रखते आदिवासी

–अमरेंद्र किशोर

कुदरत से लेना और बदले में कुछ देना, उनकी यही परंपरा है और इसी कारण से आदिवासी समाज का मतलब है परंपरा– जिसका ताना–बाना पुश्तों और पीढ़ियों से है, उस इतिहास से है जहां शैलचित्रों पर कुछ भाव–भंगिमा को चित्रित करता इंसान दिखता है तो साथ में गुफाओं में कलाकारी करते उन आदि–मानवों के वंशज जो कृषि की नई तकनीक लेकर तरक्की करने की ज़िद्द रखते हैं। गौर करने की बात है कि इन सबके बावजूद आधुनिकता की धार में, उसी मंझदार में उन आदिवासियों की वन्य संस्कृति है और उससे जुड़ा लोकज्ञान आज भी ज़िंदा है।

अपनी माटी से जुड़े रहना उनकी संस्कृति है। नदियों के करीब रहना उनके मन को भाता है। जंगलों में रहना और पेड़ों से प्रेम रखना उनका संस्कार है। पहाड़ों में हवाओं के साथ घुली भाईचारे और बंधुता भरी उनकी मौलिक सोच है। तभी तो आकाश में बादलों को चीरकर उड़ते चीलों को देखकर वे खेती की तैयारी शुरू कर देते हैं। उनके मुताबिक़ यह उनके कुल देवताओं द्वारा अच्छी बारिश का संकेत है जो आकाश में आबाद बस्तियों में रहते हैं। माटी के टीलों और चट्टानों में उनके आखिरी पूर्वजों का वास है जिन्हें हाल ही में उन्हें धरती के हवाले सौंपकर आए हैं। उस टीले पर चढ़कर आकाश की ओर गर्दन उठाए गिरगिट को देखना भी वे बारिश का इशारा मानते हैं। कुदरत के साथ रहने वाले, जंतुओं की गतिविधियों से मौसम का आगमन मानने वाले दुनिया के तमाम मुल्कों में मूल वाशिंदों का समाज, उस समाज का लोकाचार और दैनिक जीवन–व्यवहार कुदरत के विभिन्न अवयवों के साथ है। ये अवयव हैं: जल–ज़मीन–जंगल। इन तीनों के साथ भावुकता भरे रिश्तों में हंसता–खेलता और इठलाता आदिवासी समाज अपने आप का मस्त–मौला समाज है। सचमुच समूची पारिस्थितिकी को साथ लिए जीना आदिवासी संस्कृति का गुण–धर्म है। प्रकृति के बीच रहकर प्रकृति के साथ पारस्परिकता का जीवन आदिवासी समाज का मूल्यबोध है। इसी कारण उनका समाज अभी ज़िंदा है।

कुदरत से लेना और बदले में कुछ देना, उनकी यही परंपरा है और इसी कारण से आदिवासी समाज का मतलब है परंपरा– जिसका ताना–बाना पुश्तों और पीढ़ियों से है, उस इतिहास से है जहां शैलचित्रों पर कुछ भाव–भंगिमा को चित्रित करता इंसान दिखता है तो साथ में गुफाओं में कलाकारी करते उन आदि–मानवों के वंशज जो कृषि की नई तकनीक लेकर तरक्की करने की ज़िद्द रखते हैं। गौर करने की बात है कि इन सबके बावजूद आधुनिकता की धार में, उसी मंझदार में उन आदिवासियों की वन्य संस्कृति है और उससे जुड़ा लोकज्ञान आज भी ज़िंदा है। गंगा–यमुना–ब्रह्मपुत्र और इन सब की डेढ़ दर्जन सहायक नदियों के दोनों किनारों की मुलायम माटी पर बसी हिन्दुस्तान की लगभग 60 फीसदी आबादी का लोकाचार पौराणिक ग्रंथों का अनुगामी है। लेकिन इनके

अतिरिक्त लाल और काली माटी वाले उस समाज की रोज़मर्रा की ज़िंदगी के अपने पारंपरिक अनुमान हैं। उन अनुमानों का विशाल संसार है, जिस संसार के आखिरी छोर पर बैठा इंसान 'जान देंगे ज़मीन नहीं देंगे' की सोच के साथ पूर्वजों के ज्ञान को माटी पर आज़माता दिखता है। वह आकाश को जब भी निहारता है तो उसकी पलकों में पूर्वजों की बातों की जीवन दृष्टि होती है। वह जंगलों में जाकर वहां से कुछ हासिल करने के पहले भी प्राप्य के परिणामों का चिंतन करता है कि वह जो ले रहा है, उसके दूरगामी परिणाम क्या होंगे। वह सामाजिकता–पारस्परिकता और समन्वयता भरी ज़िंदगी में महज इंसानों के बीच के लेन–देन का आंकलन नहीं करता। बल्कि जंगलों से उठाई गई पेड़ की एक टहनी को लेकर भी वह जंगल के खाली होने की बात करता है।

आदिवासी समाज में प्रकृति पूजा ही धर्म है। और इसी धर्म के सम्मान ने दुनिया भर के पर्यावरण को बचाने का काम किया है। उनके लिए हर तरह के जीव–जंतु सम्मानित हैं। यह सच है वे शिकार प्रेमी होते हैं, इनकी ज्यादातर आबादी मांसाहारी है किंतु जीवों के प्रति उनकी संवेदनशीलता का भी जवाब नहीं। झारखंड के सघन वन्य इलाकों में बिताए गए अपने जीवन के अमूल्य सालों में आदिवासियों को जीव–जंतुओं को पूजते देखा है जैसे आदिवासियों का कुल गोत्र का नाम जीव–जंतुओं के नाम से रहता है। पशु–गोत्र, पक्षी गोत्र, जलचर गोत्र, रेंगने वाले जंतु गोत्र और वनस्पति गोत्र के रूप में विभक्त इन गोत्रों की व्यवस्था इतनी मज़बूत है जिसके संपूर्ण अध्ययन की ज़रूरत है। यदि कच्छप गोत्र है तो वे कछुए की पूजा करेंगे। तिर्की गोत्र छोटे चूहे को पूजते हैं। तिग्गा बंदरों को मानते हैं। बाखला एक ख़ास किस्म की घास की पूजा करते हैं। लकड़ा बाघ को गोत्र चिन्ह मानते हैं। खलखो मछली विशेष की पूजा करते हैं। केरकेट्टा गोत्र वाले आदिवासी एक ख़ास किस्म की मछली को पूजते हैं, उन्हें नहीं मारते। इस नज़रिए से आदिवासियों ने अपने–अपने इलाकों में जीव–जंतुओं के संरक्षण का बेमिसाल काम किया है। जीव–जंतु ही नहीं बल्कि अलग–अलग प्रजाति के पेड़–पौधों से लेकर फूलों और फलों से लेकर पहाड़ों को पूजने का रिवाज भारत के आदिवासियों में देखा गया है।

कोई पुश्तैनी मान्यताओं को सम्मान देते हुए साल वृक्ष बचा रहा है तो किसी को सेमल बचाने की चिंता है। क्योंकि साल वृक्ष को साक्षी मानकर विवाह करते हैं और विवाह विच्छेद के लिए साल के पत्तों को दो टुकड़ों में खंडित करने का रिवाज है। उन्हें करम का पेड़ हर हाल में बचाना है अन्यथा करमा पर्व कैसे मनेगा? वह तो धार्मिक आस्थाओं का प्रतिनिधि वृक्ष है। छाल और पत्तों से तन को ढंकने वाली अवस्था से आगे बढ़कर जब कपड़े पहनने की शुरुआत हुई, तो सेमल की ज़रूरत पड़ी। उल्लेखनीय है कि आदिवासी संस्कृति और जीवन व्यवहार में उन्हीं वृक्षों को साथ रखा गया जिनसे किसी तरह की धार्मिक मान्यता जुड़ी हुई है या जो वृक्ष आर्थिक वजहों से लाभदायी हैं या जिनका कोई औषधीय महत्त्व है। पेड़–जीव–जंतु–पंछी या जलीय जीव आदिवासी जीवन के नियामक हैं। यह बात आदिवासियों की चित्रकलाओं में, उनके लोकगीतों में और कहावतों में साफ़तौर से झलकती है। अपने खेतों से पैदा किए गए चावल पीसकर उसका घोल बनाना, पीली मिट्टी, गेरू और अन्य कुदरती रंगों से समाज के मिथकों, तमाम किंवदंतियों और दंतकथाओं को सजाकर पेश करते गोंड आदिवासियों द्वारा यथार्थपूर्ण दृश्य प्रस्तुति को विश्व की श्रेष्ठ लोककलाओं का उदाहरण मानते हैं। लेकिन इन तमाम प्रसंगों में कहीं कुदरत के साथ छेड़छाड़ का अवरोध नहीं दिखता।

> आदिवासी खेती–किसानी भी अधिकार के साथ नहीं करते। वह सादगी और नम्रता से लिपटे मनोभावों से पृथ्वी को धन्यवाद देता है जिसने उसे कुछ उगाने का अवसर दिया। खेती–किसानी से लेकर जीवन की हर ज़रूरत में जलस्रोतों–जंगलों–पहाड़ों पर निर्भर आदिवासी किसी भी सूरत में उस प्रवाह को प्रभावित नहीं करते जिस प्रवाह के बूते सदियों से पहाड़ ज़िंदा हैं, नदियों में नाद है, निनाद है और जंगलों में ज़िंदगी बचाने की न जाने कितनी युक्तियां हैं।

आदिवासियों की सोच उनके लोकज्ञान का परिणाम है और यह ज्ञान मुंहजुबानी है– पीढ़ी–दर–पीढ़ी अबूझ ज्ञान सौंपने का उनका रिवाज़ है। यानी न कोई आश्रम, न ग्रंथ और न किसी कुल गुरु की परंपरा। ज्ञान की इसी परंपरा के साथ लोकजीवन के अपने अलग राग हैं, रंग हैं और रूपक हैं। उनके रोज़ के मुहावरे हैं जो जीने की राह दिखाते हैं। कदम–दर–कदम की लोकोक्तियां हैं जो संघर्षों में उनके हमसफर हैं। आदिवासी समाज का मतलब महज नाच–नृत्य करती टोलियां नहीं, हिंसा मचाती कोई भीड़ नहीं और बगुल पंख लगाए शृंगारों से लकदक स्त्रियों का झुंड नहीं– बल्कि अंग्रेजी के कीट्स और वड्र्सवर्थ से लेकर कॉलरिज और संस्कृत के कालीदास और हिंदी के पंत को लुभाते वे जीवंत लोग हैं जिनके लोकज्ञान को समझे जाने का मन बनाना होगा। आदिवासी लोकज्ञान का सरोकार कलाओं तक, जीवन व्यवहार तक या धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं है। बल्कि इस ज्ञान की व्यापकता सेहत दुरुस्त रखने से लेकर जान–प्राण बचाने तक विस्तृत है। कहीं जंगलों से जड़ी–बूटियां लेकर आते उनके वैद्य हैं, कहीं ख़ास बूटियों–छाल और पत्तों से सरीसृपों के काटे का इलाज करते विष वैद्य हैं तो कहीं चूर–चूर चकनाचूर हड्डियां जोड़ते हड़जोड़वा लोग हैं। ऐसे वैद्य भारत के हर आदिवासी गांव में हैं। विष वैद्य भी भारत भर में हैं लेकिन दक्षिण भारत में ऐसे वैद्य खासतौर से विष हरने का काम करते नजर आते हैं। इन वैद्यों के घर हैं, उनकी परंपरा है तो हड़जोड़वा लोगों की दर्जनों बस्तियां ओडिशा राज्य में देखने को मिलती हैं।

सेहत की चिंता करते इन तमाम प्रकार के वैद्यों और जानकारों की खासियत है कि इनका काम–कारोबार पीढ़ीगत है। इसी तरह आदिवासी भारत में वैसी धाय (दाई) हैं जिनका काम है बच्चे पैदा करवाना। इस जटिलता को भी अपने परंपरागत ज्ञान से

सहजता से करने वाली इन धायों के पास जड़ी–बूटियों का ज्ञान है जो दर्दरहित प्रसव करवातीं हैं। दंडकारण्य की धायों के पास ऐसी–ऐसी जड़ी–बूटियों का ज्ञान है जिनका उपयोग गर्भनिरोधक के रूप में किया जाता है। गीदम के लक्ष्मणा में एक ऐसी ही धाय मिली जिसके पास एक जड़ी है, उसका दावा है कि जब तक कोई महिला उक्त जड़ी को कमर में बांधे रखेगी, गर्भधारण नहीं कर सकती। जानकारों के मुताबिक जैसे हिंदू समाज ने मंत्र की रचना की थी तो आदिवासियों के पास अपना तंत्रविज्ञान था। आज हिंदू धर्म में मंत्र और तंत्र की मौजूदगी हिंदुओं और आदिवासियों के परस्पर सम्मिलन से संभव हो सकी है। किंतु दुःख की बात है कि उन आदिवासियों से आज तक बहुपयोगी ज्ञान की परंपरा सीखने की कोशिश किसी ने नहीं की।

सवाल है कि आदिवासियों का लोकपक्ष क्या है– आखिर किन वजहों से आयुर्वेद के आचार्य धंवंतरि को विद्या पूरी कर चुके छात्रों के दीक्षांत समारोह में कहना पड़ा था कि '.....आयुर्वेद को समझना है तो जंगलों में जाकर आदिवासियों से उस विज्ञान को समझना और सीखना होगा'। कहने का मतलब है आज भी उन आदिवासियों को सिखाने के बदले उनसे हमें सीखना होगा– उनकी ज़िंदगी की विधियों को समझना होगा जिन विधियों को सावधानी से अपनाकर आदिवासियों के गांवों में खुशिया हैं, तसल्ली है; निश्चिंतता के मोहक और प्रेरक वैविध्य हैं।

आदिवासी खेती–किसानी भी अधिकार के साथ नहीं करते। वह सादगी और नम्रता से लिपटे मनोभावों से पृथ्वी को धन्यवाद देता है जिसने उसे कुछ उगाने का अवसर दिया। खेती–किसानी से लेकर जीवन की हर ज़रूरत में जलस्रोतों–जंगलों–पहाड़ों पर निर्भर आदिवासी किसी भी सूरत में उस प्रवाह को प्रभावित नहीं करते जिस प्रवाह के बूते सदियों से पहाड़ ज़िंदा हैं, नदियों में नाद है, निनाद है और जंगलों में ज़िंदगी बचाने की न जाने कितनी युक्तियां हैं।

महुआ का पेड़ कुदरत का अनमोल तोहफ़ा है। भोजन से लेकर दवाई, ईंधन और परंपराओं में भी इसका उपयोग किया जाता है। ऐसे कहा जा सकता है कि महुआ के फूल इस धरती के अमृत और महुआ के पेड़ इस धरती का कल्पवृक्ष हैं जिनके लिए एक आदिवासी अपने प्राण न्योछावर करता है। इसलिए इसके इर्द–गिर्द ज़िंदगी का ताना–बाना है। यदि साल वृक्ष के पत्तों ने दाम्पत्य संबंधों को जोड़ा तो उन्हीं पत्तों के जरिए बिरसा मुंडा ने क्रांति और संग्राम का बिगुल फूंका। दूरदराज तक साल के फूल और पत्ते भेजकर आदिवासी अस्मिता बचाने का संकल्प दोहराया। नष्ट होते जंगलों को चुपचाप सहन करता आदिवासी महुआ वृक्ष को उतना ही शुद्ध और पवित्र मानता है जितना हमारे लिए पीपल माननीय है, वंदनीय है। क्योंकि महुआ इन्हें भोजन देता है। महुआ के फूल से आदिवासियों की ज़िंदगी है। ये इनसे शराब से लेकर लड्डू तक बनाते हैं। आदिवासी जनजातीय परंपरा में जन्म से लेकर मरने के बाद भी महुआ से बनी शराब का तर्पण किया जाता रहा है।

लेकिन महुआ का मतलब महज शराब नहीं, नशाखोरी नहीं बल्कि महुआ के फूल का अपना औषधीय महत्त्व है। मौसम विज्ञानी आदिवासी भोजन की पौष्टिकता को अपने धर्म से जोड़ते हैं; उसे आस्थाओं के साथ संयोजित करते हैं। सबसे बड़ी बात है कि महुआ के बिना आदिवासी समाज की ज़िंदगी चल ही नहीं सकती। ध्यान देने की बात है कि आदिवासी महुआ से चोंप (गोंद) भी निकालते हैं जिससे घर में अन्न को नुकसान करने वाले चूहे को फंसाते हैं। इसे चिड़िया फंसाने के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। झारखंड के पटमदा प्रखंड के आदिवासी बताते हैं कि महुआ की लकड़ी के कोयले में बहुत ताप होता है, इसलिए लोहा इस आग में जल्दी गलता है। महुआ के कोयले में किसान अपने लोहे के औजार जैसे हंसिया, कुदाली वगैरह बनाते हैं। उल्लेखनीय है कि झारखंड के असुर आदिवासी लोहा गलाने का पारंपरिक कारोबार सदियों से करते चले आ रहे हैं। इनकी इसी खासियत की वजह से प्रख्यात नृविज्ञानी वेरियर एल्विन ने इन असुरों को आधुनिक भारत का 'लौह शिल्पकार' कहा था।

इस प्रकार महुआ की उपयोगिता देख लें, समझ लें तो यह बात स्पष्ट होती है कि कुदरत पर आश्रित आदिवासी समाज के कितने आयाम हैं। महुआ के साथ आदिवासी समाज का नाता कितना सार्थक और सफल है। यदि इसके फल के गूदे (पल्प) का इस्तेमाल पौष्टिक सब्जी बनाने में किया जाता है तो इसके बीज की गिरी से निकलने वाला तेल खाद्य तेल और प्रसाधन के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। इसके पत्तों से दोना पत्तल बनाया जाता है; लकड़ियों का उपयोग जलावन के तौर पर किया जाता है।

लोकज्ञान का सीधा आशय है कुदरत के साथ का साहचर्य। उसके मनोनुकूल गढ़ी गई जीवनशैली और प्रकृति के भरोसे की ज़िंदगी यानी उस पर आधारित सुसंगत जीवन का प्रवाह। इसी कारण आदिवासी दिखने में बेहद आत्मकेंद्रित नज़र आता है लेकिन उस समाज का हर व्यक्ति बेहद महत्वपूर्ण होता है। वह अधिकार की बात नहीं करता बल्कि कर्तव्यों का ध्यान रखता है। यही कारण है कि उस समाज का लोकज्ञान आज भी मौजूद है। उतनी ही मज़बूती के साथ जितना बिरसा के कालखंड में था। लोकज्ञान का राजपथ है परंपरा और परंपरा की बात हुई तो गुजरात कच्छ ज़िले की नमक भूमि वाले रण इलाके के मूल वाशिंदे मालधारियों की बात क्यों न हो। वहां के मालधारी लोग कुदरत द्वारा बनाई और बिछाई गई बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों में मज़े से रहते हैं। वे पशुपालक होते हैं जो अपने कौशल के लिए जाने जाते हैं। मवेशियों की परवरिश से सपरिवार जीवनयापन करते हैं। मालूम हो, कच्छ की बन्नी भैंस बीस–बीस लीटर तक दूध देती हैं। मालधारी लोग अपने पशुओं की गतिविधियों से भी आगामी मौसम की जानकारी लेते हैं। जैसे उनका कुत्ता जब आकाश की ओर बार–बार देखने लगे तो बारिश होना तय है। उसी तरह बारिश के दिनों में उनकी भैंस या गाय कान हिलाते हुए बाहर आने को आतुर हो तो इसका मतलब है बारिश होगी।

मालधारी काकरेज गाय भी पालते हैं। गायों की यह प्रजाति

अपने दुधारूपन के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं जो दिन भर में 18 से 20 लीटर तक दूध देनी हैं और कम बीमार पड़तीं हैं। मालधारी बताते हैं उनकी गायें भी सूर्य को देखती हैं तो वे बारिश का आसरा रखने लगते हैं। इंसानी आबादी के बराबर भैंस–गाय–ऊंट और बकरी वाले समूचे कच्छ में बिना अकाल पानी की किल्लत रहती है तो जानवरों का भरण–पोषण अपने आप में चुनौती है बन्नी एशिया की सबसे बड़ी घास–भूमि है। सूखे से मार खाए इलाके के मालधारी हार मानने वाले लोग नहीं हैं। संकटों में उन्होंने पानी जमा करने और उसे जोगाकर रखने की तरकीब निकाली। जलसंग्रह का लोकज्ञान पूरी दुनिया की सभ्यताओं के बसने के बाद टिकने और आबाद रहने का कारण रहा है। बारिश पर निर्भर रहने वाले मालधारी अपने और मवेशियों के लिए विरदा पद्धति से वर्षाजल एकत्र करते हैं। गड्ढा खोदकर उन गड्ढों की दीवारों को मज़बूत बनाने के लिए लकड़ियों के इस्तेमाल की उनकी कारीगरी बेजोड़ है। इस विधि में जिन छोटे उथले कुंओं का निर्माण मालधारी करते है उसके बारे में रोचक तथ्य है। चूंकि मालधारी पानी की जगह खोजने और खुदाई करने में माहिर होते हैं। लिहाज़ा, यह एक परंपरागत जल संरक्षण पद्धति है। इसमें वे ऐसी झीलनुमा जगह का चयन करते हैं, जहां पानी का बहाव हो। वे बहुत आसानी से इस विधि के तहत छोटे उथले कुएं बनाते हैं, और उनमें बारिश की एक–एक बूंद इकट्ठी की जाती है। वैसे तो वहां भूजल खारे पानी का होता है, उसके ऊपर बारिश के मीठे पानी को एकत्र किया जाता है, जिसे साल भर खुद के पीने और मवेशियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। खारे पानी के ऊपर बारिश के मीठे पानी का समायोजन अलग किस्म के विज्ञान का नमूना है। ऐसे सैकड़ों नमूने देश के हर प्रांत में मिलते हैं और हर प्रकार की जाति और प्रजाति के बीच पानी से जुड़े लोकज्ञान का विस्तार है।

सूखे से मार खाए इलाके के मालधारी हार मानने वाले लोग नहीं हैं। संकटों में उन्होंने पानी जमा करने और उसे जोगाकर रखने की तरकीब निकाली। जलसंग्रह का लोकज्ञान पूरी दुनिया की सभ्यताओं के बसने के बाद टिकने और आबाद रहने का कारण रहा है। बारिश पर निर्भर रहने वाले मालधारी अपने और मवेशियों के लिए विरदा पद्धति से वर्षाजल एकत्र करते हैं। गड्ढा खोदकर उन गड्ढों की दीवारों को मज़बूत बनाने के लिए लकड़ियों के इस्तेमाल की उनकी कारीगरी बेजोड़ है।

नमूने की बात होती है तो ओडिशा के उन आदिवासियों की ज़िंदगी को करीब से देखते हैं जो माटी की सिफ़त को पूजने वाले लोग हैं और उनके लिए माटी में बीज डालना यज्ञ से कम नहीं होता। माटी को पूजने वाले आदिवासी न जाने कितनी पीढ़ियों से धान–दलहन की लगभग 500 प्रजातियों के बीज बचाते चले आए हैं। बीजों को जमा रखने का उनके पास लिखित ज्ञान नहीं है और न ही वे किसी कृषि वैज्ञानिक के संपर्क में हैं। वहां के एक दर्जन से अधिक आदिवासी समुदायों के बीच बीजों के संग्रह का रिवाज सदियों से है, जिन बीजों को लेकर वैज्ञानिकों को अभी शोध करना बाकी है। कालजीरा, गोठिआ, हल्दीचूड़ी, उमूरिचुड़ी, माछाकांता, भूदेई और दोदिकाबुरी जैसी धान की अलभ्य प्रजातियों को ओडिशा का लोकमानस जहां भूल चुका है लेकिन कोरापुट के आदिवासी समुदायों ने न सिर्फ उनका संग्रह किया है बल्कि उनकी खेती भी कर रहे हैं। आदिवासी बताते हैं कि इन दुर्लभ प्रजातियों की खरीद सरकारी मंडियों में नहीं होती है। इस कारण वे अपने उपभोग के लिए इन प्रजातियों की खेती करते हैं। बताते हैं कि इन प्रजातियों के चावल विटामिन आदि की प्रचुरता के कारण आदिवासी संस्कृति के खान–पान की आत्मा हैं। लेकिन इन प्रजातियों में कई ऐसी हैं जिन्हें बहुत पानी की ज़रूरत नहीं पड़ती। कहने का आशय है कि धान की कुछ प्रजातियां खाल ज़मीन (निचली ज़मीन) पर उगाई जाती हैं तो कुछ प्रजातियां माल (सामान्य ज़मीन जहां सब्जियां उगाईं जातीं हैं और जहां गांव बसाए गए हैं) ज़मीन पर पैदा की जाती हैं। इसलिए ज़मीनों के प्रकार पर किस प्रजाति का चावल पैदा किया जाए, यह एक मौखिक नियमावली है जिसे आदिवासी मुंहजुबानी याद रखते हैं।

अन्य इलाकों की तरह ओडिशा के आदिवासी भी लोकविज्ञानी होते हैं। जब तक उनके ज्ञान पर आधुनिक विचार पद्धतियों का आक्रमण नहीं हुआ, अतिक्रमण नहीं हुआ तब तक वह अपनी मर्ज़ी से मौसम के मिजाज़ और बादलों की चहलकदमी से मौसम का पूर्वानुमान लगा लेते थे। यह ज्ञान आज भी सुदूरवर्ती इलाकों की बस्तियों में ज़िंदा है। गोबर खाद के भरोसे खेती–किसानी का अभ्यस्त आदिवासी समुदाय इस वजह से भी रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल नहीं करता क्योंकि उनके पास पूंजी नहीं है यानी वंचना वरदान बन चुकी है। यह सच है कि दुर्लभ प्रजाति के धान की खेती आसान नहीं होती, आदिवासी ऐसा बताते हैं। इसके पहले वे मौसम की नब्ज़ यानी हवाओं की दिशा टटोलते हैं। उसके दिल की धड़कनों मतलब बादलों की सघनता, उसके रंग और उसकी गति को भांपते हैं, क्योंकि आदिवासियों के लिए खेती विज्ञान नहीं, उनकी संस्कृति है।

आदिवासी बादलों की रंगत पहचानने में निपुण होते हैं। आकाश के रंग और साथ में तैरते हुए या डेरा जमाकर पसरे बादलों के बीच रंगों का अंतर करना आदिवासियों को आता है। जैसे कालाहांडी (ओडिशा) के खेतों में धान रोंपने की तैयारी कोंड–कुटिया आदिवासी तब शुरू करते हैं जब शाम के वक़्त पूरब दिशा में पहाड़ के समान बादल उमड़ने लगे तो वे मान लेते हैं कि हफ्ते भर में जमकर बारिश होगी। लेकिन उत्तर दिशा में बादल घिरना उनके लिए इस बात का संकेत है कि वहां अगले 72 घंटे में बारिश होगी। झारखंड के पलामू ज़िले के पाठ इलाकों में (यहां की ज़मीन में बॉक्साइट का अमूल्य खजाना है) गर्मी के मौसम की चांदनी रात में, ख़ासतौर से आषाढ़ पूर्णिमा की रात जब हवा नहीं बहती है तो असुर आदिवासी अपने टोला–टप्पर को छोड़कर परदेस जाकर कमाई करने का मन बना लेते हैं क्योंकि उस साल अकाल निश्चित है। तभी तो समय से पहले का पलामू का पलायन

समाज विज्ञानियों को अचंभित करता है। उसी तरह यदि उनके इलाके में दो दिन तक आकाश धूलमय रह जाए तो आदिवासी और उनके अन्य संगी–साथी समुदाय खेती नहीं करने का निश्चय कर लेते हैं। झारखंड के गुमला ज़िले में बारिश के मौसम में सूरज डूबने से पहले यदि पश्चिम दिशा में लालिमा सामान्य से ज़्यादा गहरा जाए तो उम्दा बारिश का संकेत माना जाता है।

वैसे तो मौसम की तासीर को समझने वाले गैर–आदिवासी समाज का भी ज्ञान बहुत गहरा है लेकिन पूरी तरह से कुदरत के भरोसे जीने वाला समुदाय मौसम का बेजोड़ विज्ञानी होता है। वह धरती की छाती नहीं खुरचता; धरती के थन से पानी नहीं निकालता; न पहाड़ों को तोड़कर घर बनाता है बल्कि वह जानने की कोशिश करता है कि फिलहाल प्रकृति के पास अधिशेष क्या हैं, अतिरिक्त क्या है। इसे जानकर वह साल भर की ज़िंदगी का प्रारूप तय करता है। आदिवासी समाज धनागम को खुशियों का आधार नहीं मानता। व्यापार उसके स्वभाव में नहीं। लाभ कमाना उसके संस्कार में नहीं। आज बाज़ार की मार और नीतियों के हस्तक्षेप के चलते वह धन को प्रमुख मान लेने की वैचारिक लाचारी भले ही ओढ़ चुका हो किंतु उसके लिए आतंरिक खुशी तब होती है जब उत्तर दिशा में मंडराते बादलों के साथ पूरब दिशा से हवाएं बस्तियों को दुलारने लगतीं हैं। तब आदिवासी समझ लेता है कि उस पर कुदरत मेहरबान है। इस हवा को पुरबइया कहते हैं। पुरबाईया खुशियां बरसाती है तो दक्खिन से आती हवाएं दुःख परोसतीं हैं। वह अपने साथ बरसने को मन बनाए बैठे बादलों को बहकाकर अपने साथ ले जाती हैं।

आदिवासी लोकमान्यता को करीब से देखिए। ओडिशा के कोरापुत में वहां के ग्रामीण बताते हैं कि सफ़ेद रंग का बादल खेत भर बरसता है; लाल रंग का बादल तालाब भर बरसता है; पीले रंग का कटोरी भर बरसता है। सोनभद्र के पनिका समाज का कहना है कि धुंअरी रंग का बादल जब बरसता है तो खेत–नदी–नाले सब कुछ लबालब कर देता है। उनका दावा है कि तीतल रंग का बादल ज़रूर बरसता है, ऐसी कहावत भी है। मालवा–निमाड़ माटी के भील आदिवासी भी मौसम की जानकारी रखते हैं। उनके मुताबिक शुक्रवार का उठा बादल यदि शनिवार तक छाया रहे तो लोगों को रविवार के दिन बाहर निकलने का कार्यक्रम स्थगित कर देना चाहिए, खूब बारिश होगी। ओडिशा के सुंदरगढ़ के उरांव आदिवासी बताते हैं कि बीच अगस्त के बारिश का पानी पीना बेहद लाभदायी होता है। छोटे–छोटे बच्चों के पेट में कीड़े होने पर यह पानी पिलाने से कीड़े मर जाते हैं। इस जल को भरकर रखने पर जल में कीड़े नहीं होते हैं। उरांवों के अनुसार गंगाजल पवित्र होता है वैसे ही इस समय का पानी अमृत जल कहा जाता है। इसी चर्चा को आगे बढ़ाते हुए ये आदिवासी कहते हैं कि अगस्त के उत्तरार्द्ध की बारिश को हल्के में नहीं लेना चाहिए।

झारखंड के लोहरदगा के आदिवासियों से बादलों की चाल और उनके चरित्र को लेकर विस्तार से चर्चा हुई। हरमू गांव के तूरिमा भगत से सालों पहले 2002 में चर्चा हुई थी। उनके मुताबिक समुंद्री रंग के कजराह बादल हों या धूमिल या सुरमई रंग के, जब बरसते हैं तो रुकने का नाम नहीं लेते। सोमन रंग के बादल के बारे में क्योंझर (ओडिशा) के लोधा आदिवासियों का मानना है कि वे आकाश में सजे रह जाते हैं, बरसते नहीं हैं। करईल बादल कम बरसते हैं लेकिन धब्बेदार–कौवापंखी बादलों का धमाल आकाश में खूब दिखता है जो धरती को तर–बतर कर देते हैं। कजरारे–रतनारे–धुधुआरे बादल आकाश में हल्ला–गुल्ला मचाकर चले जाते हैं, बरसना उनके बूते की बात नहीं होती। तूरिमा की बात अधूरी रह गई। उनके अनुसार पीले या गेरुआ रंग के बादल भी नहीं बरसते। लेकिन वे थोड़ा लाल रंग ले लें तो खेतों में पिंडलियां डूब जातीं हैं। लेकिन जनवरी के महीने में यदि आकाश लाल–पीला हो जाए तो बारिश नहीं होती बल्कि ओले बरसने की आशंका गहरी हो जाती है। काही रंग के बादल भी हल्की बूंदाबांदी करते हैं। लेकिन धूसर–सेविया–उन्नावी–कक्रेजी और तूतिया रंगों के बादल बरसकर मैदानी इलाकों को डुबो देते हैं। तूरिमा अपनी बात पूरी करते हुए कहते हैं कि यदि दिन में गर्मी और रात में ओस पड़ती हो तो बारिश नहीं होती।

मौसम की गतिविधि पर गहरी नज़र और पकड़ रखने वाले आदिवासियों का लोकज्ञान अद्‌भुत है। आदिवासी बताते हैं कि मई या जून की जिस तिथि को पुरबईया बहती हो तो जुलाई या अगस्त की उसी तिथि को बारिश होना निश्चित है। अब आदिवासी हिन्दू तिथि जान चुके हैं, शेष दुनिया से घुलने–मिलने लगे हैं। ऐसे में उनकी आस्थाओं में बदलाव आया है। चिरंतरता की बरक़रारी पर आधुनिकता की ब़र्क साफ़ दिखने लगी है। लेकिन आदिवासी अपने गांव से आज भी जुड़े हैं। उन्हें पता है कि दुर्दिन में गांव ही काम आएगा। गांव को मज़बूत रखने के लिए पूंजी चाहिए और पूंजी शहरों में है, उन शहरों के बाज़ार में है। शहर में रहकर अपने गांव पर नज़र रखने वाला एक आदिवासी मई के महीने में बेहद संवेदनशील रहता है। जब जेठ की यही पुरबईया यदि बुधवार को बहती है तो मंडियों में अनाज की आवक कम होगी। महाजन अनाज महंगा बेचेगा। लेकिन सोमवार और गुरुवार की जेठ वाली पुरबईया खेत लहलहा देगी। सावन खूब बरसेगा।

शायद ये हवाएं सागर से उठते मानसून की दस्तक हैं– बुरे या बेहतर मानसून का। काश, गैर–आदिवासी समाज भी इस ज्ञान को खंगालता और उसे समझता ताकि दुनिया के नक़्शे पर चौकड़ी मचाती भुखमरी की घटनाएं कमतर होतीं। क्या हम जीव–जंतुओं से प्रेम किए जाने की बातें कहानियों या पंचतंत्र तक सीमित रखने की किसी लाचारी में हैं या बेहद मज़बूती के साथ आदिवासी समाज की इस सोच और लोकाचार को अमल में लाना चाहेंगे?

(लेखक आदिवासी मामलों के जानकार हैं। आदिवासी भारत के अलावा दक्षिण–पूर्व एशिया के कई देशों की यात्रा कर चुके हैं और वहां के तीन दर्जन से अधिक आदिवासी समाज का अध्ययन कर चुके हैं। आदिवासी और पर्यावरण विषयों पर इनकी सात किताबें प्रकाशित हो चुकीं हैं।)

ई–मेल : amarendra.kishore@gmail.com

लोकनृत्यों में मिट्टी की सुगंध

–गरिमा संजय

नृत्य भारतीय जीवनशैली में रचा–बसा सा प्रतीत होता है। कत्थक, भरतनाट्यम, कथकली, ओडिशी आदि नृत्यों ने जहां नृत्य को शास्त्रीय–स्तर दिया, वहीं भारत के विभिन्न प्रांतों में प्रचलित लोकनृत्यों में देश की मिट्टी की सुगंध, परंपराओं की झलक मिलती है। कह सकते हैं, नृत्य भारतीय पारंपरिक जीवनशैली में समाहित है, जहां दिन–प्रतिदिन की क्रियाओं में नृत्य शामिल होता है। प्राचीनकाल से भारतीय जनमानस की उत्सवधर्मिता अचरज में डालती है, जो यहां मसाला कूटते हुए, फसलों की रोपाई और कटाई करते हुए भी महिला–पुरुष गीत और नृत्य को साथी बनाते हैं।

नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है जिसमें नवरसों, श्रृंगार, करुणा, हास्य, रौद्र, वीर, वीभत्स, अद्भुत, भयानक, शांत का निरूपण होता है। यदि प्रकृति के कण–कण में, अणुओं–परमाणुओं में नर्तन है, यदि शिव के डमरू के नाद से सृष्टि का सृजन है, तो भारत में नृत्य की परंपरा भी सृष्टि के निर्माण जितनी ही प्राचीन है।

नटराज शिव के तांडव से सृष्टि के सृजन और संहार तक, कृष्ण–गोपिकाओं के रास तक भारतीय अंतस युगों–युगों से नर्तन में सराबोर रहा है। पर्वों और त्योहारों में, मेलों और चौबारों में, छोटी–छोटी परंपराओं में गीत–संगीत और नृत्य का समावेश रहता है।

डमरू के प्रथम नाद से ढोलक–मृदंग की थाप तक, भारतीय जन–मानस युगों–युगों तक थिरकता रहा है। प्राचीन भारत के अवशेषों से, उपलब्ध प्रमाणों से, प्राचीन मूर्तियों, चित्रकलाओं एवं साहित्य में अनादिकाल से नृत्य की परंपरा के साक्ष्य मिलते हैं। दंडी ने कहा,

'नृत्यगीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः'

अर्थात्, काम और धन को नृत्य और गीत पर आश्रय मिलता है।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में 'नृत्य' की व्याख्या नाट्य–विधाओं के अंतर्गत की है। नृत्यकला को समझाते हुए वे कहते हैं–

'यतो हस्तः ततो दृष्टिः, यतो दृष्टिः ततो मनः।
यतो मनः ततो भावो, यतो भावो ततो रसः।।'

अर्थात्, जिधर हाथ हों, नर्तक की दृष्टि भी उधर जाए, जहां दृष्टि हो, मन भी वहीं हो, जहां मन हों वहीं भाव और जहां भाव होगा, वहीं रस भी होगा।

युगों पूर्व रचे गए साहित्य में नृत्य के जिन सिद्धांतों को प्रस्तुत किया गया है, वे आज भी सामयिक हैं, मान्य हैं।

नृत्य भारतीय जीवनशैली में रचा–बसा सा प्रतीत होता है। कत्थक, भरतनाट्यम, कथकली, ओडिशी आदि नृत्यों ने जहां नृत्य को शास्त्रीय–स्तर दिया, वहीं भारत के विभिन्न प्रांतों में प्रचलित लोकनृत्यों में देश की मिट्टी की सुगंध, परंपराओं की झलक मिलती है। कह सकते हैं, नृत्य भारतीय पारंपरिक जीवनशैली में समाहित है, जहां दिन–प्रतिदिन की क्रियाओं में नृत्य शामिल होता है।

प्राचीनकाल से भारतीय जनमानस की उत्सवधर्मिता अचरज में डालती है, जो यहां मसाला कूटते हुए, फसलों की रोपाई और कटाई करते हुए भी महिला–पुरुष गीत और नृत्य को साथी बनाते हैं। युगों–युगों से वसंतोत्सव में गीत–संगीत और नर्तन का समावेश हुआ, और खेतों में पहली रोपाई से लेकर फसल तैयार होने तक हृदय के उल्लास को नर्तन में ढाला; शिशु का जन्म हो, या विवाह–आदि संस्कार, भारतीय हृदय सदा गीतों और नर्तन के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करता रहा। चाहे तपते मरुस्थल हों, या वर्षा से सराबोर क्षेत्र, ठिठुरते सर्द प्रदेश हों या समुद्र–तट पर बसे मछुआरों के प्रदेश, नृत्य और गीतों के माध्यम से सभी अपने सुख–दुःख व्यक्त करते रहे हैं।

उत्सवधर्मी भारत के हर प्रांत में, हर गांव की मिट्टी में संगीत और नर्तन रचा–बसा है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक, गुजरात से अरुणाचल, त्रिपुरा और अंडमान–निकोबार द्वीप समूह तक, हर क्षेत्र की, हर गांव और समुदाय के लोकनृत्य न केवल उनकी पहचान हैं, बल्कि अभिव्यक्ति का लय–तालबद्ध माध्यम भी हैं। हर प्रांत, हर क्षेत्र में अनेक लुभावने लोकनृत्य पाए जाते हैं, जो अपनी लय और ताल के बीच भारत की पारंपरिक विरासत को संजोए हुए हैं।

हर प्रांत के लोकनृत्यों में परंपराओं और संस्कृति का अद्भुत समावेश मिलता है। यदि पूरे भारत के विभिन्न नृत्यों का अध्ययन करें तो इनमें प्रांतीय विभिन्नताओं के अंतर तो प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु सभी के मूल में एकता भी नज़र आती है। लय, ताल और धुन हों या मुद्राएं और भाव–भंगिमाएं, या फिर, संगत के वाद्य–यंत्र, सभी में कुछ न समानताएं देखने को मिलती हैं। नृत्य के अवसरों में भी समानता देखने को मिलती है। अधिकतर लोकनृत्य भारतीय संस्कृति के शिशु–जन्म, मुंडन, विवाह आदि विविध संस्कारों से संबंधित होते हैं, या दशहरा, होली, नवरात्रि जैसे कुछ विशेष पर्वों से जुड़े होते हैं, अथवा फसल की रोपाई–कटाई आदि का हर्षोल्लास व्यक्त करते हैं।

उत्तर–पूर्व में सिक्किम के मारुनी नृत्य में भारतीय संस्कृति के साथ नेपाल की संस्कृति का सुंदर समावेश दिखाई देता है, जिसे नौ–वाद्यों वाले नौमती बाजा की धुन पर करते हैं। शादी–ब्याह, और बच्चों के जन्म जैसे उत्सवों में किए जाने वाले इस नृत्य में सत्य की असत्य पर विजय प्रस्तुत की जाती है। प्राकृतिक सौंदर्य को निरूपित करता यह नृत्य फसल की कटाई के साथ विशेष रूप से जुड़ा है। सौभाग्य और संपदा के प्रतीक इस नृत्य में कभी–कभी एक विदूषक भी सम्मिलित होता है, जिसे 'धातु–वारे' कहते हैं।

इसी तरह, भूटिया समुदाय के लोकनृत्य ता–शी–यांग–कू के माध्यम से सौभाग्य एवं संपदा के लिए देवताओं को प्रसन्न किया जाता है।

सिक्किम से पूर्व अरुणाचल प्रदेश की ओर बढ़ें तो आदिवासी समुदायों के बिया सोदान और हॉर्नबिल की थिरकन देखने को मिलती है। यहीं, लायन एंड पीकॉक डांस सौहार्द्र एवं शांति के द्योतक होते हैं।

असम के 'बिहू' में प्रांत की मिट्टी की खुशबू आती है। अप्रैल माह में फसल की कटाई के समय मनाए जाने वाले पर्व, बिहू से जुड़े इस नृत्य में युवक और युवतियां ढोल और पेपा (सींग के बने पाइप) की धुन पर थिरकते हैं। गोल घेरे में घूमते हुए किए जाने वाले इस नृत्य में सामान्यतः पुरुष वाद्य–यंत्र बजाते हैं और महिलाएं उन वाद्यों की लय पर नृत्य करती हैं।

त्रिपुरा के त्रिपुरी समुदाय का प्रमुख लोकनृत्य लेबांग बूमानी और फसल से जुड़ा नृत्य मैमिता है, तो वहीं मणिपुर का लोकनृत्य मणिपुरी नृत्य बसंत–रास मार्च–अप्रैल में बसंत ऋतु के समय किया जाने वाला मनमोहक नृत्य है, जो मणिपुर की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसकी आकर्षक पोशाक और पैरों की थिरकन मंत्र–मुग्ध कर देती है। दिवा–रास दिन के समय किया जाने वाला लोकनृत्य है और तरो जनजाति का युद्ध–नृत्य न केवल लुभावना होता है, बल्कि इसकी धुन दर्शकों में भी ऊर्जा का संचार करती है और ढोल की थाप पर दर्शक भी जोश से झूम उठते हैं।

नगालैंड के कुकी नृत्य में बांस की छड़ियों को हाथ में लेकर ढोल की थाप पर जोशीला नृत्य करते हैं। यहीं, मयूर नृत्य, आलुयाङ्, चंगाई और खंबा लिम का अपना आकर्षण है।

मेघालय के बेहडींगकलम नृत्य में ढोल और बांसुरी की धुन पर नृत्य करते हैं, तो मिज़ोरम के छेइहलम लोकनृत्य में उत्सव और उल्लास की चेतना सजती है। इस नृत्य के साथ गाए जाने वाले गीत को छेइहला कहते हैं।

उत्तर–पूर्व से पूर्वी राज्यों, बिहार, झारखंड, बंगाल और उड़ीसा की ओर बढ़ें तो छऊ लोकनृत्य इन चारों राज्यों में प्रचलित है, जिसमें शास्त्रीय नृत्य की झलक भी नज़र आती है। सामान्यतः,

चैत्र पर्व के महीने में किए जाने वाले इस नृत्य में 'छऊ' अर्थात् मुखौटे पहनते हैं। छऊ नृत्य की शैली में 'परिखंड' प्रणाली की झलक आती है, जो सिपाहियों के प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है।

झारखंड के 'अग्नि' नृत्य में ऋग्वैदिक काल के विचार सम्मिलित हैं, जहां अग्नि–पूजन को प्रमुखता दी गई है। यहीं, फसल की कटाई के समय झूमर जैसे नृत्य खुशहाली और उल्लास के प्रतीक हैं।

'जाता जतिन' नृत्य मैथिली महिलाओं में प्रचलित है, तो वर्षाऋतु में युवक एवं युवतियों के बीच करमा नृत्य देखने को मिलता है।

बंगाल का 'ब्रित' या 'व्रत' नृत्य गर्भाधान के आनंद में किया जाने वाला नृत्य है और काली नाच मां काली को समर्पित नृत्य है। उड़ीसा के 'त्रिभंग' में शास्त्रीय नृत्य, ओडिसी की तरह 'त्रि–भंगी' मुद्रा श्रीकृष्ण की याद दिलाती है। 'गोटी–पुआ' के रोचक नृत्य में पुरुष नर्तक महिलाओं की वेशभूषा में नृत्य करते हैं। ये नर्तक पुरी के मंदिर में स्थापित रामचंद्र देव के अखाड़े के सदस्य होते हैं। जोड़ियों में किए जाने वाले इस नृत्य को तीन वादकों के साथ किया जाता है, जो पखावज, गिनी और हारमोनियम बजाते हैं। नृत्य में पञ्चदेवता पूजा, भूमि प्रणाम और बद्दू आदि शामिल होते हैं।

दक्षिण, में आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु की ओर बढ़ें तो लोकनृत्यों में दक्षिण भारत की सुमधुर संस्कृति के दर्शन होते हैं। मंदिरों में देवदासियों द्वारा किया जाने वाला 'आंध्रनाट्यम' देव–पूजन का एक प्रकार है, तो 'वीर–नाट्यम' में 'वीरभद्र' का पूजन होता है। यह नृत्य 'द्रक्षरमा' क्षेत्र में अधिक प्रचलित है, जिसे वीरभद्र का जन्म–स्थान माना जाता है।

तमिलनाडु का सर्वाधिक प्रचलित लोकनृत्य 'करगम' है, जिसमें तमिलनाडु की परंपराओं की झलक मिलती है। नृत्य में युवक नर्तक कच्चे चावल के कलश सिर पर रखकर संतुलन बनाते हुए नृत्य करते हैं। नृत्य के साथ ढोल की ताल अत्यंत आकर्षक दृश्य प्रस्तुत करती है।

> हर प्रांत के लोकनृत्यों में परंपराओं और संस्कृति का अद्भुत समावेश मिलता है। यदि पूरे भारत के विभिन्न नृत्यों का अध्ययन करें तो इनमें प्रांतीय विभिन्नताओं के अंतर तो प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु सभी के मूल में एकता भी नज़र आती है। लय, ताल और धुन हों या मुद्राएं और भाव–भंगिमाएं, या फिर, संगत के वाद्य–यंत्र, सभी में कुछ न समानताएं देखने को मिलती हैं। नृत्य के अवसरों में भी समानता देखने को मिलती है।

कथकली और मोहिनीअट्टम शास्त्रीय नृत्यों के लिए प्रसिद्ध केरल में लोकनृत्यों के भी अनेक प्रकार मिलते हैं। उत्तरी केरल में लोकप्रिय मंदिरों से जुड़े नृत्य 'ठेय्यम' में देवी–देवताओं की पौराणिक कहानियों को नृत्य के माध्यम से व्यक्त करते हैं। भड़कीली साज–सज्जा के साथ इस नृत्य में कुरुमकुज़ई, चेंडा वीक्कूचेंडा जैसे वाद्ययंत्रों की लय–ताल पर नर्तक थिरकते हैं। हर साल, अनेक मंदिरों में नृत्य की ये प्रस्तुतियां होती हैं।

प्राचीन नृत्यकला, ओट्टमठुल्लाल में हास–परिहास के अंदाज़ में मनोरंजक ढंग से राजाओं और समाज के नेताओं पर व्यंग्य करते हैं। एक नर्तक द्वारा किए जाने वाले इस नृत्य में कलाकार का श्रृंगार हरे रंग से किया जाता है।

कर्नाटक के लोकनृत्यों में सर्वाधिक प्रचलित यक्षगान और डोल्लू कुनिथा हैं। इनमें यक्षगान नाट्य का एक प्रकार है, जबकि कुनिथा पूरे कर्नाटक में प्रचलित लोकनृत्य है, जिसमें महिला एवं पुरुष एक साथ नृत्य करते हैं। तेज़ गति वाले इस ऊर्जावान नृत्य में शिव–स्वरूप, भगवान् श्री बीरलिंगेश्वर की पूजा–अर्चना होती है। मूल रूप से यह नृत्य उत्तरी कर्नाटक के कुरुबा गौड़ा समुदाय से जुड़ा है। यहां 'डोल्लू' का अर्थ शिव के डमरू से है, जिसे राक्षसों के संहार के समय बजाते हैं। नृत्य में दस–बारह ढोलवादकों का समूह शामिल होता है।

मध्य प्रदेश के लोकनृत्य यहां की रंगबिरंगी संस्कृति के परिचायक हैं। यहां, बुंदेलखंड क्षेत्र में जावरा नृत्य प्रचलित है, जो धन–धान्य और समृद्धि से संबंधित अनुष्ठानों से जुड़ा नृत्य है। इसमें नर्तकियां सिर पर जवार से भरी टोकरियां भरकर, संतुलन बनाती हुई, विभिन्न वाद्य–यंत्रों की धुन पर थिरकती हैं। इन नर्तकियों की लय–तालबद्ध गति अत्यंत चित्ताकर्षक होती हैं। तेर्तली, लहंगी, आकिरी नृत्य मध्य प्रदेश के अन्य लोकनृत्य हैं।

फसलों की कटाई के समय छत्तीसगढ़ में किए जाने वाले 'सैला' नृत्य में नर्तकों के हाथों में एक छड़ी होती है, जिसे गोलाई में घूमते हुए वे एक–दूसरे की छड़ियों पर लय–तालबद्ध तरीक़े से मारते हुए थिरकते हैं। इसी तरह, गोंड, बैगा और ओरो जनजातियों द्वारा किए जाने वाला कर्मा नृत्य बसंतोत्सव का प्रतीक है। पंडवानी, पंथी और सुआ नाचा इस क्षेत्र के कुछ और लोकनृत्य हैं।

दिंडी और कला महाराष्ट्र में धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़े

लोकनृत्य हैं, जबकि कोली मछुआरों का नृत्य है। 'लावण्य' अर्थात् सुंदरता शब्द से बने लावणी नृत्य में सामाजिक, धार्मिक और प्रेममय प्रस्तुतियां होती हैं।

महाराष्ट्र के लोकनृत्य का नाम आते ही याद आता है 'तमाशा'। जोश और उल्लास से भरपूर इस नृत्य में संस्कृत नाटक–विधा 'प्रहसन' की झलक मिलती है। सामान्यतः भक्तिगीत से आरंभ होने वाले 'तमाशा' में गीत–संगीत और नृत्य के समावेश के साथ नाटिका प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रेम–गीत 'लावणी' तमाशा की सुंदरता और अधिक बढ़ाते हैं। प्रस्तुति में ढोलकी, टुनटुनी, मंजीरा, हलगी, लेजिम वगैरह वाद्य बजाए जाते हैं।

गुजरात का गरबा नृत्य विशेष रूप से नवरात्रि पर्व से जुड़ा हुआ है, जिसमें मां दुर्गा की पूजा की जाती है। गरबा नृत्य मां की आरती से पहले किया जाता है, जबकि डांडिया आरती के बाद, हर्षोल्लास के प्रतीक के रूप में किया जाता है। गरबा में हाथ और पैरों की गतियां होती हैं, जबकि डांडिया में बांस से बनी डांडियों के साथ नर्तक और नर्तकियां थिरकते हैं। डांडिया नृत्य मां दुर्गा द्वारा महिषासुर के वध को प्रस्तुत करता है, जो असत्य पर सत्य की विजय दर्शाता है।

भांगड़ा और गिद्दा नृत्य पंजाब की पहचान हैं, ऊर्जा और हर्षोल्लास के प्रतीक ये नृत्य फसल की कटाई, शादी, ब्याह जैसे उत्सवों में किए जाते हैं। गिद्दा केवल महिलाएं करती हैं, जबकि भांगड़ा में स्त्री–पुरुष दोनों साथ नृत्य करते हैं।

हरे–भरे खेत–खलिहानों से जुड़े हरियाणवी 'नाच' में किसानों का उल्लास और गर्व के भाव अभिव्यक्त होते हैं। घेर वाले घाघरों में सजी नर्तकियों द्वारा किया जाने वाला 'घूमर' हरियाणा और राजस्थान की शान हैं। घूमर वास्तव में राजस्थान की सीमाओं में प्रचलित नृत्य का प्रकार है जिसे होली, गंगोर पूजा और तीज आदि में प्रस्तुत किया जाता है। राजस्थान की अपेक्षा हरियाणा के घूमर में गीत की धुन अधिक तेज़ होती है, जो धीरे–धीरे बढ़ती जाती है। इसमें नृत्य करते हुए गोलाई में घूमते हैं और नृत्य समाप्त होते–होते नृत्य की रफ़्तार बढ़ती जाती है।

कश्मीर की स्वर्गिक सुंदरता को और अधिक बढ़ाती हैं यहां की विविध कलाएं और संस्कृति। इन्हीं में शामिल हैं, कश्मीर के लोकनृत्य, जिनमें रौफ़, धूमल, चौकी, हीरन और डोगरी जैसे नृत्य शामिल हैं। पारंपरिक कश्मीरी परिधानों में सुसज्जित कश्मीरी नर्तकियां हाथों में हाथ डाल, पारंपरिक धुन पर थिरकती हैं। धूमल नृत्य में वट्टल जनजाति के नर्तकों की लुभावनी प्रस्तुति होती है।

इसी तरह, हिमाचल के लोकनृत्यों की धुन में पर्वतीय सरसता, कल–कल बहती नदियों की मिठास शामिल है। देवभूमि के प्रत्येक गांव में देवता–पूजन के लिए नृत्य किए जाते हैं। बसंत, हेमंत आदि ऋतुओं का आगमन हो, या शादी, ब्याह या बच्चे का जन्म, हर अवसर पर यहां के निवासियों की थिरकन देखते बनती है। इन नृत्यों में अधिकतर पौराणिक कहानियों का समावेश होता है। इनमें नटी सबसे अधिक लोकप्रिय है। एक हाथ में रुमाल घुमाते, चक्करों में नर्तक और नर्तकियां बांसुरी, ढोल, सारंगी, नरसिंघा, करनाल आदि की धुन पर थिरकते हैं।

पूरे देश का भ्रमण करके पहुंचते हैं, उत्तराखंड और उत्तर प्रदेश में। उत्तराखंड के चमोली के सालूर–डूंगरा गांवों में प्रचलित रम्माण नृत्य यूनेस्को की सूची में शामिल है। उत्तराखंड के गढ़वाल और कुमायूं क्षेत्रों में ऐसा प्रतीत होता है, मानो नसों में ही नृत्य का प्रवाह होता हो। यहां पांडव नृत्य पांच पांडवों की कहानी दिखाता है, और भोतिया नृत्य मृत्यु की अवश्यम्भाविता को स्वीकारता है।

शास्त्रीय नृत्य कत्थक के लिए मशहूर उत्तर प्रदेश अपनी रासलीला, स्वांग, नौटंकी, रामलीला आदि के लिए भी प्रसिद्ध है। ब्रज क्षेत्र में प्रचलित चरकुला नृत्य की अपनी विशिष्टताएं हैं, जिसमें होली के पर्व में महिलाएं एक लकड़ी के तख़्त पर 108 दीपों को सिर पर रखकर नृत्य करती हैं। शालीन और तेज़ थिरकन वाले ये नृत्य बरबस ही मुग्ध करते हैं।

छोटी–छोटी रस्मों को दर्शाते, पौराणिक कथाओं को अपने दामन में समेटे, ये लोकनृत्य भारतीय परंपराओं के, प्राचीन मान्यताओं की अद्भुत धरोहर हैं। इनसे केवल भारतीय जनमानस की उत्सवधर्मिता ही प्रकट नहीं होती, बल्कि इतिहास और अध्यात्म का संगम भी देखने को मिलता है।

विविधता में एकता के भाव स्थापित करते, विभिन्नताओं में भी एकरसता संजोए ये लोकनृत्य भारत की एकता के अद्भुत परिचायक हैं।

(लेखिका सुपरिचित साहित्यकार हैं। विभिन्न विषयों पर पुस्तकों के साथ इनके चार उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं। भारत सरकार के विभिन्न म्यूज़ियम में बतौर कंसल्टेंट कार्यरत हैं।)

ई–मेल : garima.nvs@gmail.com

स्त्री के भीतर छिपी बैठी कला

–शम्पा शाह

यदि हमारी संस्कृति में कला जीवन का अभिन्न अंग है, तो लगभग हर स्त्री के भीतर एक कलाकार भी छिपा बैठा है, जो मौका पाते ही अलग–अलग रूपों में खुद को प्रकट करता है। कभी यह कला तीज–त्यौहार पर आंगन में अल्पना या रंगोली बनकर निखरती है, तो कभी ऊन या धागों से कितने तरह–तरह के डिज़ाइन वाले स्वेटर, कढ़ाई किए हुए घाघरे, कुर्ते, ब्लाउज़, ओढ़नी बन कर सामने आती है। किंतु, हमारे देश की ज़्यादातर स्त्रियों का जीवन इतना कठिन है कि उसमें इन कामों को करने लायक फ़ुर्सत उन्हें नसीब नहीं हो पाती है।

प्रसिद्ध भारतविद् श्री कुमारस्वामी ने लिखा है कि ग्रामीण भारतीय जीवन में अलग से कला, शिल्प या संगीत जैसा कुछ भी नहीं है। वो जीवन का अंतरंग हिस्सा है बल्कि यह कहें, कि वहां जीवन ही 'कला' है। मिट्टी का घर हो या घास–फूस का, पर उसे बुरी नज़र या मुसीबतों से बचाना जरूरी है, उसके मंगल की कामना करनी है। यह सबके मंगल की, परिवार को महफूज रखने की इच्छा ही नाना रूपों–रंगों में व्यक्त होती है। घर में अनाज हो, चूल्हे में आग हो, खेतों में खड़ी फसल हो, कुंए–बावड़ी पानी से भरे हों, चारों ओर हरियाली फूल–लताएं हों, इसी सदइच्छा के कारण ऐसा है कि कशीदाकारी–बुनाई के नमूने या गोदने–मांडने, रंगोली के नमूने आदि सभी के नाम या शब्दावली इन्हीं उपरोक्त मंगलकारी चीजों से जुड़ी होती हैं।

यह कहना ग़लत न होगा, कि यदि हमारी संस्कृति में कला जीवन का अभिन्न अंग है, तो लगभग हर स्त्री के भीतर एक कलाकार भी छिपा बैठा है, जो मौका पाते ही अलग–अलग रूपों में खुद को प्रकट करता है। कभी यह कला तीज–त्यौहार पर आंगन में अल्पना या रंगोली बनकर निखरती है, तो कभी ऊन या धागों से कितने तरह–तरह के डिज़ाइन वाले स्वेटर, कढ़ाई किए हुए घाघरे, कुर्ते, ब्लाउज़, ओढ़नी बन कर सामने आती है। किंतु, हमारे देश की ज़्यादातर स्त्रियों का जीवन इतना कठिन है कि उसमें इन कामों को करने लायक फ़ुर्सत उन्हें नसीब नहीं हो पाती है।

ऐसा कठोर शारीरिक श्रम जिसमें कल्पना या दिमाग़ या सही–ग़लत कुछ भी सोचने की गुंजाइश न हो और सिर्फ मशीन की तरह काम करना हो, वह मनुष्य से उसकी गरिमा, उसकी

कल्पना, उसकी मनुष्यता ही छीन लेता है। पुपुल जयकार, कमला देवी चट्टोपाध्याय, इला भट्ट, आदि कई गांधीवादी विदुषी महिलाओं को इस बात का गहरा एहसास था कि हमारा समूचा देश और विशेषकर स्त्रियां हुनरमंद हाथों की धनी हैं। वे तरह–तरह के ऐसे काम कर सकती हैं जिनमें उनके देशज ज्ञान, सूझबूझ, सौंदर्य, कल्पनाशीलता और मेहनत का माद्दा झलकता है और ऐसी चीज़ें बन सकती हैं जिनके जरिए वे अपनी और देश की आर्थिक उन्नति में बड़ी सहभागिता दे सकती हैं।

बिहार के मधुबनी इलाके में सन पचास के दशक में जब भयानक अकाल पड़ा, तब पुपुल जयकर ने वहां की राज्य सरकार के मार्फ़त स्त्रियों को काग़ज़ और रंग दिलवा कर चित्र बनवाए जिनके एवज में स्त्रियों को मेहनताना दिया गया। इन चित्रों को फ़िर एम्पोरियम तथा अन्य उपायों से बाज़ार में बिक्री हेतु लाया गया।

वे स्त्रियां जो सिर्फ घर पर शादी–ब्याह में 'कोहबर' चित्र बनाती थीं, उनके चित्रों ने देश–विदेश में धूम मचा दी। इनमें से कई स्त्रियों ने दुनिया भर में नाम कमाया। सीता देवी, गंगा देवी, उर्मिला देवी आदि ऐसे ही कुछ नाम हैं जिन्होंने मधुबनी चित्रशैली को नई ऊंचाइयों पर पहुंचाया। इन सभी कलाकारों के काम देश–विदेश में प्रदर्शित हुए और खूब सराहे गए। गंगा देवी ने तो न सिर्फ पारंपरिक अनुष्ठानिक चित्र बनाए, बल्कि स्वयं अपने जीवन को केंद्र में रख कर, अपनी अमेरिका की यात्रा, अपने कैंसर से जूझने के दिनों का दारुण चित्रण किया, जिसकी कला जगत में बहुत प्रशंसा हुई। इन कलाकारों ने रामायण, महाभारत की कथाओं पर आधारित चित्र बनाने की भी अपनी मधुबनी शैली में शुरुआत की थी, जिससे इस चित्रशैली का फलक बहुत विस्तृत हो गया। आज बिहार राज्य की एक उज्जवल पहचान वहां की स्त्रियों की यह 'मधुबनी' चित्रशैली भी है। कहने का तात्पर्य केवल ये है कि यदि उन स्त्रियों को सड़क निर्माण आदि काम में लगाया गया होता जहां दिनभर तपती धूप में उन्हें सिर्फ पत्थर तोड़ने पड़ते तो आज दुनिया को मधुबनी चित्रशैली के बारे में और उन तमाम स्त्रियों के भीतर छिपी कला के बारे में कुछ भी पता न चला होता। **सरकार की स्त्रियों को घर पर ही कागज़ और रंग देने की एक छोटी–सी पहल ने असंख्य कलाकारों को जन्म दिया, गरिमा दी, नाम दिया, धन भी दिया।**

कुछ ऐसा ही किस्सा छत्तीसगढ़ राज्य के सरगुजा ज़िले का भी है। 1981–82 में बहुकला केंद्र–भारत भवन, भोपाल से एक दल सरगुजा इलाके में रहने वाले जनजातीय समाजों के चित्र, शिल्प आदि अपने संग्रहालय के लिए संकलित करने गया था। वहां रजवार समुदाय की एक स्त्री सोना बाई के घर पर उन्हें मिट्टी, बांस की छोटी खपच्छियों, सुतली और रंगो के इस्तेमाल से बनी बहुत सुंदर जालियां, अनाज की कोठी और जानवरों की आकृतियां देखने को मिलीं। वे बहुत मुश्किल से उन्हें संग्रहालय के लिए कुछ वस्तुएं देने को राज़ी हुई जबकि वे लोग उनके काम की मुंहमांगी कीमत देने को राज़ी थे।

सोनाबाई ने मुझे 1992 में इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय में काम करने के दौरान अपनी और इस 'रजवार' कला की उत्पत्ति की कथा बताई थी। सोना बाई ने बताया था कि उनके ससुराल के घर में बहुत कम लोग थे जबकि मायके का घर खूब भरा–पूरा था। अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए सोनाबाई ने अपने घर को मिट्टी की तरह–तरह की आकृतियों से सजाना शुरू कर दिया। आंगन से लगे बरामदों में जालियां बनाई और उन जालियों, खिड़कियों में चिड़िया, शेर, भालू, गाय, हिरण और मनुष्य की गाती–बजाती आकृतियां बैठा दीं। सोना बाई ने अपने जीवन के अकेलेपन को भरने के लिए ये तमाम कलाकृतियां सिरजी थीं चूंकि उनका एक ही बेटा हुआ और वह भी काफी बाद में। वे कभी सपने में भी नहीं सोच सकती थीं कि उनकी सिरजी यह मिट्टी की दुनिया उन्हें इतनी प्रसिद्धि और सम्मान दिलवाएगी। सोना बाई रजवार को मिले राष्ट्रीय पुरस्कारों आदि से प्रभावित होकर उस इलाके की अन्य स्त्रियों ने भी अपने घरों में मिट्टी का काम शुरू किया। आज स्थिति यह है कि विश्वभर में 'रजवार' मिट्टी के भित्तिचित्र व शिल्प की एक पहचान है। यह समूचा इलाका अपनी इस कला के लिए जाना जाता है और रजवार समुदाय को तो इससे अपनी एक विशिष्ट पहचान मिली है।

महाराष्ट्र के मुंबई से लगे हुए ठाणे, गंजाड इलाके में 'वारली' जनजाति के लोग रहते हैं। इनके यहां घर में विवाह के अवसर पर रसोई से लगी दीवार पर 'पालघाट' देवी यानी हरियाली से छलकते घट की देवी के नाम से एक चौक बनाया जाता है। इस देवी को साक्षी मान कर ही इस समुदाय में विवाह संपन्न होता है। इस चौक को सदियों से स्त्रियां बनाती आई हैं। इसमें चौक के आस–पास पेड़, जीव–जंतुओं का चित्रण भी गेरू पुती दीवार पर पिसे हुए चावल के घोल से तैयार किए गए सफेद रंग से होता है। बाद के दिनों में देश भर में हस्तशिल्प के पुनर्नवीनीकरण के लिए जो काम किए गए, उसके चलते कई वारली स्त्रियों को अपने गांव से बाहर जाने और अपनी चित्रकारी के प्रदर्शन का मौका मिला। बाहर जाने पर उन्हें कागज़ या कैनवास पर ब्रश से चित्र बनाने को कहा गया। कागज़ की चपटी, सपाट सतह पर ब्रश से बने चित्रों में बारीकी कहीं अधिक थी। इसके अलावा, ये चित्र विवाह पर तो बनाए नहीं जा रहे थे अतः वे किसी भी विषय पर हो सकते थे। इस तरह से वारली चित्रकार अचानक से अपने गांव, खेत–खलिहान, जंगल, कहानियां बनाने लग गए और एक पूरी चित्रशैली ही खड़ी हो गई जिसे आज सब वारली चित्रशैली के नाम से जानते हैं। मानकी बापू वायडा, मीनाक्षी धूमाड़ा ने इनमें बहुत प्रसिद्धि पाई। वारली चित्रकला की लोकप्रियता के चलते जल्दी ही इस समुदाय के कई पुरुष भी चित्रकारी करने लगे। जिव्या सोमा माशे, बालू लाडक्या, पांडू धुमाड़ा इनमें से कुछ जाने–माने नाम हैं। इस चित्रशैली की लोकप्रियता इस कारण भी है कि इसमें बनने वाली आकृतियां दो

त्रिकोणों को जोड़ कर तथा माचिस की तीली के जैसे हाथ–पैर जो, प्रागैतिहासिक शैलचित्रों की विशेषता होती है, जैसे होते हैं। आज इस चित्रशैली को कई स्कूलों आदि में बच्चों को सिखाया भी जाता है।

पश्चिम बंगाल के मिदनापुर ज़िले के कई गांवों में पटुआ चित्रकार रहते हैं जो पारंपरिक रूप से एक लंबे कागज़ के रोल, जिस पर पीछे की तरफ कपड़ा चिपका कर मज़बूती दी जाती है, उस पर 'मनसा मंगल', 'चण्डी मंगल', भक्त प्रह्लाद की कथा, रामायण व महाभारत के कई छोटे प्रसंगों पर आधारित चित्रकथा बनाते हैं। ये चित्रकार फिर इन चित्रों को लोगों के सम्मुख धीरे–धीरे खोलते हुए चित्रित कथा को गाकर सुनाते भी हैं और एक उंगली से चित्र में बने पात्रों की ओर इशारा भी करते जाते हैं। यानी इस शैली में चित्रकार को कथा गायक भी होना होता है। पहले इस शैली में चित्र प्रायः पुरुष ही बनाते थे, जबकि कथागायन स्त्री–पुरुष मिल कर करते थे। लेकिन आज इस शैली में मणिमाला चित्रकार, हरिमति चित्रकार, स्वर्णा चित्रकार आदि कई प्रसिद्ध स्त्रियां हैं। इस शैली का इस्तेमाल बंगाल में लोकचेतना जगाने, शिक्षा का लोगों के बीच प्रसार करने के लिए भी खूब हुआ। यही कारण है कि इस शैली में कई ऐतिहासिक और समकालीन घटनाओं पर तुरंत कथाचित्र और गीत तैयार कर शामिल कर लिया जाता है। रूसी क्रांति, हिटलर की तानाशाही से लगाकर हमारी आज़ादी की लड़ाई, सुभाष चंद्र बोस, महात्मा गांधी, इंदिरा गांधी, बंगाल का अकाल, हाल में आया सुनामी तूफ़ान आदि सभी विषय इस चित्र परंपरा में शामिल कर लिए गए हैं।

पटुआ चित्रकारों की एक समय आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब थी, वे एक जगह से दूसरी जगह घूम–घूम कर जीवनयापन करने को मजबूर थे। किंतु आज इनकी कल्पनाशीलता, बुद्धि और गायन, चित्रांकन, कथा लेखन जैसे सभी क्षेत्रों में कुशलता के कारण इन्हें कई सरकारी, गैर–सरकारी संस्थाओं से काम मिल रहा है। विदेशों में भी इनके कार्यक्रम बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं।

मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल को एक समय इंदिरा गांधी द्वारा देश की 'सांस्कृतिक राजधानी' कहा गया था। इस गौरव को प्राप्त करने में यहां की सांस्कृतिक संस्थाओं–भारत भवन, आदिवासी लोक कला परिषद, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय का बहुत योगदान रहा है। दो चित्र शैलियां, जिनकी आज दुनिया भर में धूम है, वे तो एक तरह से इन संस्थाओं के प्रोत्साहन के द्वारा ही अपने इस मुकाम तक पहुंचीं। इनमें से एक है 'परधान गोंड' चित्रकला और दूसरी है 'भील' चित्रकला। ज़िला डिंडोरी के क्षेत्र में गोंड

पद्मश्री पाने वाली भील समुदाय की पहली महिला कलाकार भूरी बाई

जनजाति बड़ी संख्या में रहती है। इन्हीं की एक शाखा है– परधान गोंड, जो पारंपरिक रूप से गोंड राजाओं के यहां 'जस' गाकर तथा उनके प्रमुख देवता– 'बड़ा देव' को 'बाना' नामक वाद्ययंत्र के साथ गीत गाकर जागृत करने का काम करते आए हैं। इनके घरों की दीवारों को स्त्रियां कभी–कभी मिट्टी के बेल–बूटे और जानवरों की आकृतियों से सजाती रही हैं। इसके अलावा, घर को बुरी नज़र से बचाने के लिए छुही मिट्टी से ज्यामितीय 'ढीग' भी लगाई जाती है।

1980 के शुरुआती दशक में यहां जनगढ़ सिंह श्याम नामक एक चित्रकार की प्रतिभा को भारतीय आधुनिक कला के नामी चित्रकार श्री जगदीश स्वामीनाथन ने पहचाना और उसे भोपाल आकर चित्र बनाने के लिए आमंत्रित किया। जनगढ़ भोपाल में ही बस गए और उन्होंने भारत भवन के साथ जुड़कर सैंकड़ों चित्र बनाए। जल्द ही उनका नाम विश्वभर में फैल गया। धीरे–धीरे पाटनगढ़ गांव से कई युवा जनगढ़ के बुलावे पर भोपाल आते गए और सभी ने उसके मार्गदर्शन में चित्र बनाना आरंभ कर दिया और इस तरह से इस कला परंपरा का आविर्भाव हुआ। इनमें से कुछ स्त्रियों–दुर्गा बाई व्याम, कलावती श्याम ने भी चित्र बनाना शुरू किया। इस चित्रशैली के केंद्र में प्रकृति है। इनके चित्रों में पेड़, जंगल, जीव–जंतु, आकाश, पृथ्वी सब आपस में गुंथ कर एक बहुत ही लयात्मक सृष्टि को जन्म देते हैं। चटकीले रंगों से बनी आकृतियों को फिर बुंदकियों या मछली के शल्क या चोटी की गुंथाई या तीर या फिर ऐसे ही किसी निशान से सजाया जाता है। हर कलाकार अपने लिए एक अलग निशान चुनता है और यही उसकी पहचान बन जाती है। इस चित्रशैली में काम करते हुए स्व. कलावती श्याम ने भारत के सांस्कृतिक नक्शे का कभी एक चित्र बनाया था, जो तत्कालीन राष्ट्रपति अब्दुल कलाम आज़ाद को इतना पसंद आया कि उन्होंने इसे अपने लिए फिर से बनवाया था। इसी तरह दुर्गा बाई व्याम ने इस चित्रशैली में डॉक्टर अम्बेडकर की

बिहार के दरभंगा ज़िले के बहादुरपुर गांव में जन्मीं मिथिला कलाकार गोदावरी दत्ता को मिथिला कला क्षेत्र में उनके अभूतपूर्व योगदान के लिए वर्ष 2019 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया। इनकी पेंटिंग्स को जापान में मिथिला म्यूज़ियम में प्रदर्शित किया गया है। इन्हें वर्ष 1980 में राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है और 2006 में राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल ने इन्हें 'शिल्प गुरु' की उपाधि से नवाज़ा था। गोदावरी दत्ता यूं तो 6 वर्ष की उम्र से आम बच्चों की तरह दीवारों को रंगती रही हैं लेकिन उन्होंने कागज को पहली बार 1971 में अपना कैनवास बनाया। फिर इन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे देश–विदेश में 50 हज़ार से अधिक छात्रों को मिथिला कला में प्रशिक्षण दे चुकी हैं। 90 वर्ष की उम्र में भी वह अपने कार्य के प्रति समर्पित हैं और 'मिथिला कला' पर एक पुस्तक लिखने की इच्छा रखती हैं।

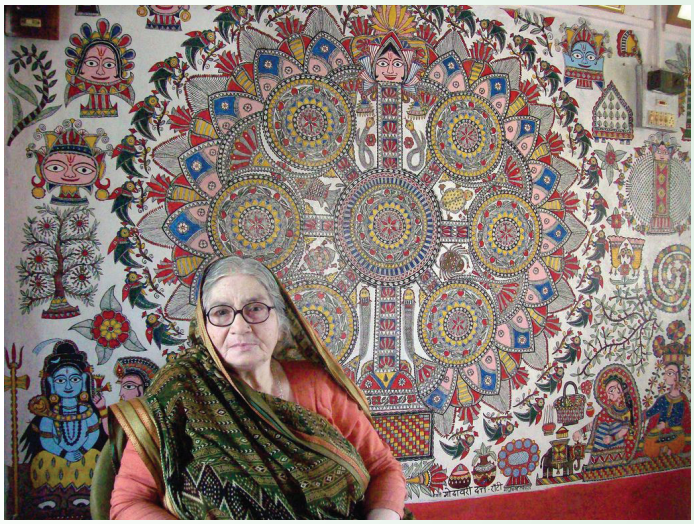

जीवनी को चित्र रूप में बनाया। आपने मुंबई हवाई अड्डे के लिए भी एक गोंड कथा पर आधारित 'इंस्टालेशन' तैयार किया, जिसे बहुत सराहा जाता है।

मध्य प्रदेश के पश्चिमी झाबुआ ज़िले में रहने वाली भील जनजाति का नाम भी पिछले वर्षों में कला जगत में अपनी व्यापक उपस्थिति दर्ज़ करा रहा है। यूं तो भील समुदाय में खेतों की उर्वराशक्ति को बढ़ाने तथा घर–परिवार को रोग–शोक से मुक्ति दिलाने के लिए अपने पूर्वज देवता, 'पिठोरा कुंवर' की पूजा का अनुष्ठान किया जाता है। इस अवसर पर इसी समुदाय का एक व्यक्ति जिसे 'लखिंद्रा' कहते हैं, नाना प्रकार के रंगों से पिठोरा की कथा से जुड़े पात्रों को एक खास संयोजन में बनाता है। इस चित्र में कई बार पात्रों का प्रतिनिधित्व उनके विशेष घोड़ों से किया जाता है। ये चित्र पिठोरा चित्रों के रूप में प्रसिद्ध हुए। लेकिन क्योंकि ये अनुष्ठान से जुड़े हुए हैं इसलिए इनमें बहुत बदलाव नहीं हो सकता था। बहु–सांस्कृतिक केंद्र भारत भवन, भोपाल के प्रथम निर्देशक, श्री जगदीश स्वामीनाथन जिनका ज़िक्र ऊपर भी आया था, ने भारत भवन की इमारत के निर्माण के काम में लगीं कुछ भील मजदूर स्त्रियों से उनके यहां जन्म, विवाह, मृत्यु के अवसरों पर बनाए जाने वाले चित्र कागज़ पर बनाने का आग्रह किया। जिन कुछ गिनी–चुनी स्त्रियों ने उनकी बात मानी, उनमें भूरी बाई बारिया, लाड़ो बाई प्रमुख थीं। इनके बनाए चित्र कुछ इतने अच्छे बने कि इन्हें जल्द ही दूसरी संस्थाओं द्वारा चित्र बनाने के लिए देश भर से बुलाया जाने लगा। फिर इस समुदाय के अन्य स्त्री–पुरुषों ने भी इस काम को अपनाया। पहले पहल भूरीबाई ने जो चित्र बनाए, उसमें भील समुदाय के द्वारा शरीर पर बनवाए जाने वाले गोदने के नमूने जैसे– आंबा मोर, अनाज की ढेरियां, बिच्छू, बावड़ी तथा नए अनाज की पूजा करने का दृश्य आदि खास थे। बाद के दिनों में भील चित्रों में उनके खेत, पहाड़ियां, भगोरिया का मेला, गल बापसी नामक पूर्वज देवता के अनुष्ठान का चित्रण, बैलगाड़ी, पूर्वजों के लिए बनाए गए गातले (स्मृति स्मारक) और उन्हें चढ़ाए जाने वाले घोड़े आदि भी बनाए जाने लगे हैं। आज इनके साथ–साथ कई कहानियों और रिवाज़ों पर आधारित चित्र भी बनाए जाते हैं। चूंकि भूरीबाई द्वारा जो चित्र बनाए गए, वे एक किसी बंधी–बंधाई शैली के अंतर्गत नहीं थे, इसलिए इनके यहां भी चटक रंगों के इस्तेमाल और कुछ भी बनाने की छूट है। इन भील चित्रों का भी मुख्य राग प्रकृति का गुंजायमान स्वरूप ही है। मनुष्य इस विशाल प्रकृति का एक छोटा–सा सदस्य ही है और उसकी भलाई इनके साथ साहचर्य भाव से जीवन जीने में ही है, यही इन चित्रों का जैसे सार तत्व है। इस वर्ष भारत सरकार ने श्रीमती भूरी बाई को उनके कला के प्रति अपूर्व योगदान के लिए पद्मश्री से सम्मानित किया है। यह उनके और उनके समुदाय के समस्त लोगों के लिए निश्चय ही बहुत बड़ी प्रेरणा का काम करेगा।

इस आलेख में जितनी भी स्त्री कलाकारों का ज़िक्र आया है उन सभी को कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुए हैं। इन सभी पर व्याख्याकारों ने लेख व पुस्तकें लिखी हैं। इन सभी की कहानियां बहुत मिलती–जुलती हुई हैं और यह भी बताती है कि कोई, पुपुल जयकर, जगदीश स्वामीनाथन, कमलादेवी की पारखी नज़र और सरकार की हस्तशिल्प को बढ़ावा देने वाली योजनाओं के चलते ही इन तमाम स्त्रियों के भीतर छुपी बैठी कलाकार को अपनी कला का परिचय देने का मौका मिला। इन स्त्रियों की अद्भुत कलाकारी ने इनके समुदाय को विशिष्ट पहचान दिलवाई और दुनिया सचमुच यह देख पाई कि दरअसल हर स्त्री के भीतर एक कलाकार जीवित होता है, जो ज़रा–सा प्रोत्साहन मिलने से खिलकर विश्व को जगमगा देता है।

(लेखिका शिल्पकार, लोक व आदिवासी कला मर्मज्ञ, लेखक व क्यूरेटर हैं। देश–विदेश में अपनी कला की कई प्रदर्शनियां की हैं। तथा 20 वर्षों तक इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय में सिरेमिक अनुभाग प्रमुख के बतौर कार्य किया है।)

ई–मेल : shampashah@gmail.com

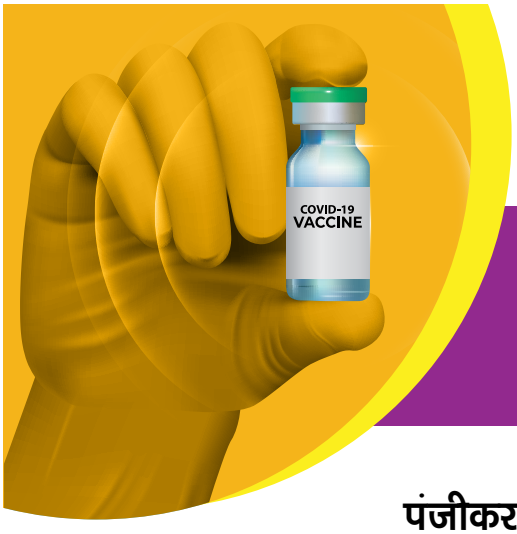

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय
भारत सरकार

बचें और बचाएं

कोविड-19 का टीका सुरक्षित है

टीकाकरण करवाने के लिए पंजीकरण अनिवार्य है।

पंजीकरण करवाते समय निम्नलिखित में से कोई भी फोटो आई डी का इस्तेमाल करें

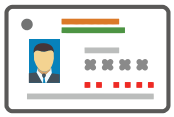

आधार कार्ड

वोटर आईडी/
पहचान पत्र

ड्राइविंग लाइसेंस

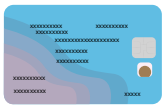

पैन कार्ड

केंद्र/राज्य सरकार/ कर्मचारी/
रिपब्लिक लिमिटेड कंपनियों
द्वारा कर्मचारियों को जारी किए
गए फोटो वाले सेवा पहचान पत्र

मनरेगा जॉब कार्ड

पासपोर्ट

आरजीआई द्वारा
एनपीआर के तहत जारी
किया गया स्मार्ट कार्ड

पेंशन दस्तावेज़
फोटो के साथ

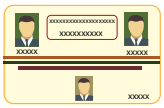

सांसदों/विधायकों/एमएलसी
द्वारा जारी किए गए
आधिकारिक पहचान पत्र

बैंक/डाकघर द्वारा जारी
फोटो वाली पासबुक

श्रम मंत्रालय की योजना
के तहत जारी स्वास्थ्य
बीमा स्मार्ट कार्ड

टीकाकरण के समय आप वही आई डी दिखाएं जो आपने पंजीकरण करवाते समय उपयोग की थी।

24/7 हेल्पलाइन नंबर: **1075** (टोल फ्री)

हम सुरक्षित, तो देश सुरक्षित!

mohfw.gov.in @MoHFWIndia @MoHFW_INDIA @mohfwindia mohfwindia

पूर्वोत्तर की कला-संस्कृति

--उमा कुमारी साह

अनंतकाल से भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र विभिन्न समुदायों, मतों तथा संस्कृतियों का मिलन बिंदु रहा है। अपनी जादुई सुंदरता तथा हतप्रभ करने वाली विविधता के लिए प्रसिद्ध पूर्वोत्तर भारत विभिन्न भाषाएं बोलने वाली 166 से अधिक अलग–अलग जनजातियों का घर है। पूर्वोत्तर में आठ राज्य शामिल हैं और इन सभी राज्यों की अपनी कला–संस्कृति और अपनी एक साहित्यिक विरासत है जो सूरज और चांद को पूजते हैं और अपनी मेहनत से प्रकृति के साथ रचते और बसते हैं।

प्रकृति के मादक सौंदर्य की अनुभूति अगर इस धरा पर कहीं होती है, तो वह है, पूर्वोत्तर। पूर्वोत्तर राज्य भारत की सामासिक संस्कृति की मिलन स्थली है। पूर्वोत्तर भारत में यूं तो आठ राज्य हैं लेकिन सात राज्य जिन्हें आमतौर पर "सात बहनों" के नाम से जाना जाता है, वे हैं– अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मेघालय, मिज़ोरम, नगालैंड और त्रिपुरा।

इन सातों राज्यों की सीमाएं एक दूसरे से सटी हुई हैं। सिक्किम पूर्वोत्तर में शामिल आठवां राज्य है जिसे इन सात बहनों के 'भाई' के रूप में भी जाना जाता है। एक ओर जहां अरुणाचल आर्किड का स्वर्ग है, वहीं असम प्राग्ज्योतिशा तथा कामरूप की राजधानी के रूप में जाना जाता था। यह रॉयल टी स्टेट भी है। मणिपुर ने अपने मणिपुरी नृत्य से एक शास्त्रीय नृत्य विधा को जन्म दिया जो भक्ति, गहरी तड़प और करुणा के एक आकर्षक मिजाज़ को उद्घाटित करता है। यह देवत्व से अलगाव और देवत्व के साथ पुनर्मिलन का प्रतीक है। मेघालय को 'बादलों का घर' कहा जाता है तो मिज़ोरम को भारत का "सोंगबर्ड ऑफ़ इंडिया" के नाम से भी जाना जाता है। नगालैंड "लैंड ऑफ फेस्टिवल" है, वही त्रिपुरा का हथकरघा कपड़ों में ही नहीं बल्कि हमारे देश की सुनहरी सांस्कृतिक विरासतों में भी रंग भरता है।

पूर्वोत्तर बस इतना ही नहीं है जो हमसे रोज़ जुड़ता, घुलता–मिलता है बल्कि पूर्वोत्तर विरासत है भारतीय परंपराओं की, कृष्ण की लीलाओं की, शक्ति के कामाख्या रूप की, जो स्त्री के गर्भ को उसकी शक्ति के रूप में पूरी दुनिया में स्थापित करती है। ''एक भारत श्रेष्ठ भारत" पूर्वोत्तर की कला, संस्कृति के साथ मिलकर ही सार्थक रूप लेता है। पूर्वोत्तर भारत के अन्य राज्यों के लोगों के लिए ही नहीं बल्कि विदेशी पर्यटकों के लिए भी नैसर्गिक

सौंदर्य का केंद्र है। प्रत्येक राज्य यात्रियों के लिए 'स्वर्ग' है।

अनंतकाल से भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र विभिन्न समुदायों, मतों तथा संस्कृतियों का मिलन बिंदु रहा है। अपनी जादुई सुंदरता तथा हतप्रभ करने वाली विविधता के लिए प्रसिद्ध पूर्वोत्तर भारत विभिन्न भाषाएं बोलने वाली 166 से अधिक अलग–अलग जनजातियों का घर है। सात बहनों यानी इन सभी सात राज्यों की अपनी कला–संस्कृति और अपनी एक साहित्यिक विरासत है जो सूरज और चांद को पूजते हैं और अपनी मेहनत से प्रकृति के साथ रचते और बसते हैं।

गीत–नृत्य, संगीत, चावल–मछली, सुपारी और बांस ये इन सातों राज्यों की जीवन जीने की कला, आजीविका से जुड़ते हैं। और बनाते हैं– पूर्वोत्तर की जीवंत संस्कृति। बांस पूर्वोत्तर के लिए एक कल्पवृक्ष है जो ना केवल पूर्वोत्तर की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है बल्कि यहां के सांस्कृतिक मूल्य, जीवन और मृत्यु के सारे रिवाज़ व उल्लास को भी पूर्ण करते हैं।

पूर्वोत्तर की कला–संस्कृतियों को थोड़ा और विस्तार से समझते हैं–

'अरुणाचल प्रदेश' : फूलों से सजा–धजा अरूणाचल ना केवल आर्किड की सबसे ज़्यादा प्रजातियों का उत्पादन करता है बल्कि यहां हर पहाड़, झील और नदी के किनारे रंग–बिरंगे फूलों से पूरे साल लदे रहते हैं। अरुणाचल प्रदेश की संस्कृति और कलाएं प्रकृति और जनजातियों के जीवन मूल्य व कृषि पर आधारित हैं। अरुणाचल की संस्कृति उल्लास की संस्कृति है, यहां निराशा के लिए कोई जगह नहीं है। परिस्थिति चाहे जो भी हो, अरुणाचल हमेशा अपनी जीवंतता के साथ मुस्कुराता है।

अरुणाचल की संस्कृति : 'प्रकृति प्रेम में बसने वाली अरुणाचल की संस्कृति सूर्य और चंद्र की आराधना करती है जिसे डो नई' पोलो कहा जाता है। अरुणाचल में 26 से ज़्यादा जनजातियां हैं और 100 से ज़्यादा उप–जनजातियां हैं। सभी जनजातियों और उप–जनजातियों की अपनी एक विशेष वेशभूषा और अपना त्यौहार व नृत्य है। नृत्य अरुणाचल की संस्कृति का अभिन्न अंग हैं।

26 से ज़्यादा जनजातियां और 100 से ज़्यादा उप–जनजातियां मिलकर आदिवासी समुदाय में आदिवासियों के प्रकार के लिहाज़ से इसे पूर्वोत्तर का सबसे बड़ा राज्य बनाती हैं। सभी जनजातियां अपनी अलग–अलग वेशभूषा और पहचान के बाद भी अरुणाचल की धरा पर एक साथ मिलकर रहते हैं जो इसकी विविधता में एकता को दर्शाता है।

लकड़ी की नक्काशी और पेंटिंग से समृद्ध अरुणाचल : अरुणाचल अपनी लकड़ी की नक्काशी के लिए पूरे देश में जाना जाता है। मिट्टी के बर्तन, विभिन्न प्रकार के रंगों से रंगी बांस की बारिक बुनाई से तैयार की गई टोकरियां फूलों–सी सुंदर प्रतीत होती हैं। लकड़ी में पारंपरिक नक्काशी से लेकर आधुनिक साज–सज्जा सैलानियों को बरबस उनकी तरफ खिंचती है। यहां का आदिवासी समुदाय प्रकृति के सारे रंग और सौंदर्य को अपनी पेंटिग में उतार देते हैं, जो अरुणाचल की गौरव गाथा भी कहती हैं।

अरुणाचल का शिल्प : अरुणाचल प्रदेश के लोगों में कलात्मकता और शिल्प कौशल का अद्भुत सामंजस्य है। विभिन्न मतों के अनुसार शिल्प के आधार पर अरुणाचल को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है जो इस प्रकार हैं– (1) बौद्ध जनजाति आधारित क्षेत्र (2) अपतानी हिल मिरिस और आदिस आधारित क्षेत्र (3) दक्षिण–पूर्व भाग में बसे क्षेत्र। बौद्ध जनजातियां सुंदर मुखौटे, मोनपा सुंदर कालीन और चांदी के लेख बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं। पारंपरिक उत्सवों व दैनिक जीवन में इनके उपयोग से यह सब एक बड़े बाज़ार का भी निर्माण करते हैं।

दूसरे क्षेत्र से संबंधित समूहों को बांस और बेंत के विशेषज्ञ के रूप में जाना जाता है। इसके अलावा, अपातानी एडिस गेल और शोल्डर बैग और मिश्मी के कोट शॉल और जैकेट यहां की उच्च–कलात्मक अभिव्यक्ति हैं।

तीसरे क्षेत्र से संबंधित लोग अपनी लकड़ी की नक्काशी के अतिरिक्त बकरी के बाल; हाथी के दांत; अन्य पत्थर के साथ–साथ पीतल और चश्मा बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं।

पूर्वोत्तर का प्रवेशद्वार असम

पूर्वोत्तर का प्रवेशद्वार यानी असम। असम जिसका अर्थ है असमान। प्रकृति की गोद में बसा असम जहां एक ओर यह वैश्विक जैव विविधता का हॉटस्पॉट है, वहीं ब्रह्मपुत्र और बराक घाटी पूरे असम को दो हिस्सों में बांटती है। स्थानीय लोग इसे ऊपरी असम और निचले असम के नाम से पुकारते हैं। असमिया और सिलेटी दो भाषा बोलने वाले यहां के निवासी असमिया भाषा से अत्यधिक प्रेम करते हैं। यहां के पहाड़, नदी और बांस लोगों की जीवनरेखा हैं।

असम की वाणिज्यिक राजधानी गुवाहाटी है जिसे प्रसिद्ध प्राग्ज्योतिशपुर अथवा 'पूर्वी प्रकाश का शहर' कहा जाता है। मान्यताओं और पुराणों के अनुसार इस शहर को महाकाव्यों में उल्लेखित राजा नरकासुर द्वारा स्थापित किया गया था। गुवाहाटी एक अत्यधिक गतिशील, व्यस्त तथा भीड़–भाड़ वाला शहर है। गुवाहाटी वास्तव में दो शब्दों के मेल से बना है– गुवा का अर्थ है सुपारी और हाट का अर्थ है बाज़ार यानी सुपारी का बाज़ार।'

स्त्री शक्ति असम की संस्कृति : "तू ही मेरे मन में तू ही जीवन में, तू ही कण–कण मे बसी मेरी मां," ये प्रार्थना पूर्वोत्तर संस्कृति का आधार है जो प्रकृति को मां के रूप में देखती है। कामाख्या देवी के साथ काली की पूजा असम को स्त्री शक्ति और जननी के रूप में पूजने वाला प्रांत बनाता है। असम की संस्कृति का आधार स्त्री ही है, जो ना केवल दुर्गा और काली की आराधना करना जानती है बल्कि सदियों से चाय बागान से पूरे असम की अर्थव्यवस्था को सिंचित करती हैं। मेखला चादर में लिपटी असम की महिलाएं चाय बागानों से ताज़ी पत्तियों को चुनती हैं और हर सुबह हमारे घरों में बनने वाली चाय में असम की ताज़गी भर देती हैं। मंदिर में ईश्वर के सामने जल रही अगरबत्ती की खुशबू से हमारी चेतना के सारे द्वार खोल देती हैं। असम में महिलाएं ही अगरबत्ती बनाने का काम करती है। इसके लिए असम की महिलाएं बांस को कई रंगों से रंग कर उसमें खुशबूदार धूप और मसाले लगा कर हमें ईश्वर की प्रार्थना और ओरोमा थेरेपी में प्रयोग होने वाली अगरबत्ती देती हैं।

असम का कल्पवृक्ष 'बांस' : बांस की कलाकृति असम की कला–शिल्प की बेमिसाल अभिव्यक्ति है। बांस की बनी वस्तुएं असम की कला का एक अद्भुत नमूना ही नहीं हैं बल्कि उनकी रोज़मर्रा की वस्तुएं भी इन्ही बांसों से बनती हैं। असम में बांस की ज़रूरत और पहुंच कुटीर उद्योग से लेकर बड़े उद्योग तक है। बांस से केवल टोकरी, कुर्सी, टेबल ही नहीं बनते बल्कि बांस को कतर कर कपड़ों के साथ सिलकर, बुनकर बहुत सुंदर टेबल क्लोथ और कालीन बनाए जाते हैं। बांस के बने पर्दे और गलीचे असम में आने वाले पर्यटकों को अपनी ओर बरबस खींच ले जाते हैं। यहां बांस से आभूषण भी बनते हैं, जिसमें बांस के सुंदर ब्रेसलेट, रंगबिरंगी चूड़ी, बालों के क्लिप, जूड़ा बनाने वाले क्लिप, बांस की बनी बोतलें और नक्काशी किए हुए बांस के फूलदान, गमले, फोटो फ्रेम ये सब कुछ असम की कलाकृति के इकोफ्रेंडली उत्पादों के उदाहरण हैं। उपयुक्त तत्थ्यों के आधार पर ही असम को जानने और समझने वालों ने 'बांस' को कल्पवृक्ष की संज्ञा दी है।

पान–सुपारी की महक : पान सुपारी भी जुड़ती है असम की संस्कृति में। चाय पिए बिना मेहमान जा सकते हैं लेकिन बिना पान–ताम्बूल खाए किसी को जाने की इजाज़त नहीं है। असम की संस्कृति और अर्थतंत्र दोनों में सुपारी का विशेष महत्व है। जहां एक ओर सुपारी और पान का प्रयोग पूजा व औषधि के रूप में लोग करते हैं वहीं हर घर में लोग भोजन के बाद पान या सुपारी का सेवन करते हैं। पुरुषों के साथ महिलाएं भी पान–सुपारी खाती हैं और इसे मेहमानों के स्वागत का एक हिस्सा भी माना जाता है। लोग अपने घरों को चारों तरफ से ईंट या पत्थरों की चारदीवारी से नहीं घेरते बल्कि सुपारी के लंबे पेड़ इनके घरों की चारदीवारी बन जाते हैं। इतना प्रकृति प्रेम वास्तव में असम में ही देखा और जिया जा सकता है।

गौ–सज्जा और सेवा के साथ शुरु होता है बोहाग बिहू/ रोंगाली बिहू–बिहू असम का सबसे बड़ा त्यौहार है। यह पूरे वर्ष में तीन बार मनाया जाता है। अप्रैल महीने में मनाए जाने वाले बिहू को बोहाग बिहू/रोंगाली बिहू भी कहते हैं। यह असम का नववर्ष उत्सव है। जब धान की कटाई के बाद लोगों के घर धान से भर जाते हैं तो पूरा असम अपनी समृद्धि को एक साथ उत्सव के रूप में मनाता हैं। रौंगाली बिहू वास्तव में अपनी सांस्कृतिक एकता और कृषि कार्य में लगे सभी समूहों का आभार प्रकट करने का त्यौहार है। सात दिनों तक चलने वाले इस महोत्सव में पहले दिन सभी असमवासी गाय व बैल को दूल्हा व दुल्हन की तरह नहला कर श्रृंगार करते हैं। उसके बाद उसे शुभकामनाएं देते हैं कि आप सब्जी और फसल को खाओ और हर साल बढ़ती जाओ। शाम से पहले गायें घर आती हैं, उसे सुगंधित जड़ी–बूटियों वाला धूप, एक पारंपरिक धुआं दिया जाता है, जिससे गाय के शरीर में लगे सारी मक्खी और कीट भाग जाते हैं। गाय और बैल को नई रस्सी से गोशाला में बांधा जाता है। दूसरे दिन पुरुषों को नए वस्त्र दिये जाते हैं। वहीं तीसरा दिन गोसाई बिहू ईश्वर को समर्पित रहता है। बिहू के अंतर्गत 101 प्रकार के साग बनाए जाते हैं। इसे तिता टैंगा खाने के दिन के रूप में मनाया जाता हैं। बिहू के आने वाले अन्य दिन में हल की पूजा, ढेंकी की पूजा, बहुत तरह के पीठा और नारियल के लड्डू के खाने के साथ ही तांत के कपड़ों के प्रति भी आभार व्यक्त करता है असम।

जापि है सम्मान का प्रतीक : जापि असम की हस्तशिल्प का एक मनमोहक उदाहरण है। जापि असम की एक पारंपरिक टोपी है, यह बांस को बारीक बुन कर बनाया जाता है, जिसे असम में आने वाले हर मेहमान को पहना कर स्वागत करते हैं। जापि पुरुष और महिला दोनों को पहनाए जाते हैं।

पारंपरिक गमछा और एक सींग वाले गेंडे की भेंट : असम में होने वाले सभी सरकारी, गैर–सरकारी समारोहों में मेहमान को गमछा और एक सींग वाला गेंडा प्रतीक चिन्ह के रूप में भेंट

किए जाते हैं। गमछा सफेद सूती होता है जिसकी किनारी लाल होती है, इन गमछों को असम की महिलाएं घरों में ही बुनती हैं। गेंडे को बांस से बनाया जाता है जो असम में एक प्रतीक के रूप में दिया जाता है।

असम के पारंपरिक आभूषण : असम की महिलाएं मेखला चादर के साथ आज भी पारंपरिक आभूषण ही पहनती हैं। इन आभूषणों में धुग–डोगी, केरुमोनी, मारिया गाम–खारू, मुथी–खारु, जोंबिरी, ढोलबिरी, लोका–पैरो, बनाना, गल–पाटा और केरू शामिल हैं।

कांस्य और पीतल के बर्तन : असम कांस्य और पीतल धातु से बने बर्तनों का मुख्य केंद्र है। असम में बांस के बाद सबसे बड़ा उद्योग बेल मेटल का है जो शोरतेबारी बजाली ज़िले में स्थित है।

कांस्य के बर्तनों का प्रयोग असम के लोग न केवल पूजा के दौरान करते है बल्कि कांस्य पीतल के मिश्र धातु के बने बर्तन भोजन के साथ–साथ साज–सज्जा के लिए घंटी व फूलदान के रूप में उपयोग करते हैं।

असम सिल्क : असम अपने सिल्क के कारण भी दुनिया में ख़ास पहचान रखता है। यहां आपको रेशम की दो प्रमुख किस्में देखने को मिलेंगी– इरी और मुगा जिनको विश्व के सर्वोत्तम सिल्क होने का दर्ज प्राप्त है।

पूर्वोतर की स्वर्णभूमि/मणियों की भूमि मणिपुर : प्राचीन मान्यताओं के अनुसार शिव और पार्वती इस धरा को अस्तित्व में लाए और उनके नृत्य के सुर–ताल से सजा मणिपुर प्रकृति का सबसे मनमोहक स्थल 'स्वर्णभूमि' कहलाया। मणिपुर अपने प्राकृतिक सौंदर्य के साथ–साथ नृत्य, जीवंत जीवनशैली और विशेष परिधानों के लिए पूरे भारत का आकर्षण बिंदु है।

महिलाओं के परिधान, पारंपरिक तिलक, उनका नृत्य और उनके पारंपरिक आभूषण मणिपुर की संस्कृति की अभिव्यक्ति हैं। मणिपुर की संस्कृति कृष्ण की लीलाओं, प्रेम और लाइ हारोबा उत्सव के उत्साह और उमंग से जुड़ी है। उत्सवों को मणिपुर बहुत ही उत्साह के साथ मनाता है; वह प्रकृति का बार–बार आभार व्यक्त करता है जो मणिपुर को 'उत्सव की भूमि' बनाता है।

कलात्मक संस्कृति : हर संस्कृति की एक अपनी पहचान व उसकी अपनी गौरवगाथा होती है। मणिपुर की संस्कृति एक विरासत है कला और सृजनात्मकता की, जिसने शास्त्रीय नृत्य में मणिपुरी नृत्य को देकर भारत के गौरव को बढ़ाया है। वहीं मणिपुर में बनने वाले उत्पाद और हस्तशिल्प पूरे विश्व में अपनी एक अलग पहचान बनाता है। लाइ हारोबा पारंपरिक अनुष्ठानों; श्रुति साहित्य; संगीत और नृत्य का संगम है जो मणिपुर की संस्कृति का एक हिस्सा है। मणिपुर की महिलाएं अत्यधिक कलात्मक हैं; प्रत्येक घर में एक करघा है और वे बहुत अच्छी बुनाई करती हैं। उनके द्वारा विशिष्ट प्रकार के डिज़ाईन बनाए जाते हैं। मणिपुर में स्थानीय–स्तर पर तैयार की गई वस्तुओं जैसे साड़ी, चादर, पर्दे, स्कर्ट, फनेक आदि हैं। हथकरघा उद्योग मणिपुर में सबसे बड़ा कुटीर उद्योग है। मणिपुर से कपड़े और शॉलों आदि का निर्यात भी होता है।

सुंदर पोशाक, लोकनृत्य–संगीत से बनी आनंद की संस्कृति : पूर्वोत्तर संस्कृति संगीत, प्राकृतिक सौंदर्य और आनंद की संस्कृति है। मणिपुर का कोई भी उत्सव गीत और नृत्य के बिना पूरा नहीं होता। इन नृत्यों के लिए किए जाने वाले शृंगार और पहने गए विशेष परिधान मणिपुर की अपनी विशेषता है। झुके हुए मोनो स्ट्रिंग पेना की गुंजने वाली ध्वनि मणिपुर के सभी त्यौहारों में बजने वाला एक पारंपरिक वाद्ययंत्र है। पहले इसका प्रयोग देवताओं के आह्वान में होता था। संगीत वाद्ययंत्र मणिपुर का पर्यायवाची है।

माना जाता है कि ''पीपली ले के मेटेई'' समूह का सबसे पुराना संगीत वाद्ययंत्र है। 'शास्त्रीय मणिपुरी नृत्य में इसका प्रयोग होता है। गीत, संगीत, भक्ति, प्रकृति की वंदना से उपजा आनंद मणिपुर को आनंद की 'संस्कृति' की स्थली बनाता है।

शिल्पकला : मणिपुर अपने विशेष शिल्प के लिए पूरी दुनिया में जाना जाता है। बांस की मनोहर टोकरियां और चटाई मणिपुर के बांस से निर्मित अद्भुत शिल्प का उदाहरण हैं। बांस मणिपुर की शिल्पकला में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

मणिपुर में ईश के रेशों से मनमोहक चटाईयां तथा तकिये बुने जाते हैं जिन्हें स्थानीय भाषा में 'कौनफक' के नाम से जाना जाता है। वहीं 'फाक' डबल बुनाई से बनने वाला चटाई का एक प्रकार है। दूसरी ओर, मणिपुर अपने अनूठे 'लोंगपी मिट्टी' के बर्तनों के लिए प्रसिद्ध है जो ग्राउंड काले सर्पिन पत्थर और विशेष भूरी मिट्टी के मिश्रित पेस्ट की मदद से तैयार किए जाते हैं। यह केवल लोंगपी गांव में ही पाया जाता है। मणिपुर में मिट्टी के बर्तनों का निर्माण नागा जनजातियां करती हैं जो कई पीढ़ियों से स्थानीय मिट्टी और पत्थरों से प्लेट, कटोरी, कप और मूर्तियां बना रहे हैं। लोंगपी हैम के नाम से जानी जाने वाली इस काली मिट्टी के बर्तनों के जटिल डिज़ाइनों की बदौलत इस मणिपुरी शिल्पकला को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है।

बादलों का घर मेघालय की संस्कृति : 'मेघालय' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है ''बादलों का निवास स्थान''। प्रकृति अपने पूरे यौवन रूप में शृंगार कर इस धरा पर कहीं आती है तो वह मेघालय है।

गारो, खासी, जयंतियां की समृद्ध विरासतों से सजी मेघालय की संस्कृति ईमानदारी और सहजता के लिए भी प्रसिद्ध है। वनस्पति विज्ञान का अजूबा कीड़ों को खाने वाला 'पिचर' पौधा भी इसी मेघालय की गोद में है। प्रकृति के कई रंग–रूप यहां सहज ही दिखाई देते हैं। बांस और मिट्टी की रचनात्मकता यहां की संस्कृति में रची–बसी हुई है।

मेघालय की संस्कृति की सजीवता वहां के लोगों द्वारा पहने जाने वाले वस्त्रों में भी दिखती है। महिलाएं, एक पारंपरिक पोशाक ''जेनसेन'' पहनती हैं जो बिना सिला हुआ कपड़ा होता है और

चारों तरफ लपेट के पहना जाता है।

पहाड़ों और प्रकृति को जीवनरेखा मानने वाली मेघालय संस्कृति : अपनी परंपराओं से आज भी गहरे से जुड़ा है 'मेघालय'। खासी संस्कृति मातृप्रधान और जयंतिया मातृवंशीय है जिनमें मृत व्यक्ति की संपूर्ण संपत्ति की वारिस महिलाएं होती हैं। प्रायः परिवार की छोटी बेटी ही संपत्ति की अधिकारी होती है। छोटी बेटी अपनी माता और परिवार का ध्यान रखती है।

मेघालय की सुरीली शिल्पकला : अपने सुरीले वाद्ययंत्र के लिए भी जाना जाने वाला मेघालय का शिल्प भी बहुत आकर्षक है। कलात्मक बुनाई; लकड़ी पर नक्काशी; बेंत और बांस की कलात्मक वस्तुएं, संगीत वाद्ययंत्र; आभूषण तथा 'अनानास फाइबर' की वस्तुए, मिट्टी के खिलौने तथा गुड़िया मेघालय के अद्भुत शिल्प के उदाहरण हैं।

सुंदर मनोहर पर्वतों से घिरा मिज़ोरम : मिज़ोरम जिसका शाब्दिक अनुवाद है पर्वत निवासियों की भूमि। प्रकृति के बाल्यरूप–सा अहसास कराता मिज़ोरम स्वच्छता और शुद्ध वातावरण का संगम स्थल है।

कृषि पर आधारित संस्कृति, सारे पर्व–त्यौहार चावल के बने पकवान और नृत्य–संगीत से मिलकर पूरे होते हैं।

मिज़ोरम की कला–संस्कृति : मिज़ोरम की प्रमुख भाषा ''मिज़ो'' है। ''सोंगबर्ड ऑफ इंडिया'' के नाम से जाना जाने वाले मिज़ोरम को पूरी दुनिया में अपने मनोहर बेम्बो नृत्य के वजह से भी जाना जाता है। मिम कूट; चपचर कूट और पवल ये सभी मिज़ोरम के त्यौहार उनकी सांस्कतिक गाथा को अभिव्यक्त करते हैं। यह सब कृषि से जुड़े हैं। बांस की टोकरियां; विभिन्न प्रकार के मोतियों और चांदी के गहने यहां के शिल्प के उदाहरण हैं। मिज़ोरम की महिलाएं नृत्य करते समय कब्रेची ब्लाउज पौंची के साथ पहनती हैं। यह उनका पारंपरिक परिधान है।

नगालैंड की कला–संस्कृति : लैंड़ ऑफ फेस्टिवल के नाम से पूर्वोत्तर का यह राज्य अपनी धरती की मदस्त सुंदरता से पूरे पूर्वोत्तर में एक संगीतमय भूमि के रूप में अपनी उपस्थिति बनाता है। अपने सौंदर्य के कारण यह पूरब का 'स्विटज़रलैंड' भी कहलाता है।

नगालैंड की संस्कृति अपने पूर्वजों की गौरवगाथाओं की एक समृद्ध विरासत है। हनर्बिल फेस्टिवल यहां सबसे बड़ा महोत्सव है। यह नगालैंड का सबसे लोकप्रिय फेस्टिवल है; इसका नाम नगालैंड के प्रसिद्ध पक्षी 'हानर्बिल' के नाम पर रखा गया है।

लकड़ी के सामान, नक्काशी, हर्बल उत्पाद, बांस की कलाकृति यहां के प्रमुख शिल्पों में से एक हैं।

त्रिपुरा की कला–संस्कृति : पूर्वोत्तर का सबसे छोटा और प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त त्रिपुरा सांस्कृतिक धरोहरों का संगम है। अपने हस्तशिल्प में अपनी संस्कृति और कलाओं को अभिव्यक्त करने वाला त्रिपुरा चावल, बांस और कपास से अपनी अर्थव्यवस्था को सिंचता है। यहां की महिलाओं द्वारा की जाने वाली विशेष बुनाई की मांग विश्व बाज़ार तक है। बुनाई, लकड़ी के शिल्प, मिट्टी के बर्तन, बांस की कलाकृति, टोकरी त्रिपुरा के प्रमुख हस्तशिल्प हैं।

पूर्वोत्तर की संस्कृति, उसकी कला, उसका प्राकृतिक सौंदर्य कवियों की रचनाओं में भी पूरा नहीं समा सकता है। भारत के लिए पूर्वोत्तर सांस्कृतिक विरासतों का एक गौरव है जो प्रकृति में ही रचा–बसा है। भारतीय संस्कृति के हर रूप–रंग को समझने के लिए पूर्वोत्तर की संस्कृति और कलाओं को करीब से देखना बेहद ज़रूरी है।

(लेखिका चौधरी बंसीलाल यूनिवर्सिटी, डिपार्टमेंट ऑफ़ मीडिया एंड कम्युनिकेशन स्टडीज़ में असिस्टेंट प्रोफेसर हैं।)
ई–मेल : uma.mghv@gmail.com

वारली : प्रकृति के इर्द-गिर्द घूमती ज़िंदगी

–डॉ. शशि ए. मिश्रा

वारली संस्कृति प्रकृति के विभिन्न खंडों के चारों ओर घूमती है। वारली संस्कृति में सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं को घर की मिट्टी की दीवार पर चित्रकारी के ज़रिए अभिव्यक्त किया जाता है। इन पेंटिंग्ज़ में वारली जनजातीय समुदाय के लोकचिंतन, लोक कल्पना और लोक अनुभूति की झलक भी समाहित रहती हैं जो प्रकृति से प्रेरित प्रतीत होती हैं। वारली लोगों को पेंटिंग का कौशल प्रकृति के साहचर्य में अपने ही अनुशासन में अनौपचारिक रूप से अपने पुरखों से विरासत में मिला है जो लोककथाओं के रूप में उन तक पहुंचा है।

वारली जनजाति का सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन

भारत दुनिया के उन देशों में शामिल है जहां जनजातीय जनसंख्या सबसे अधिक संख्या में है। भारत में कुछ राज्यों को छोड़कर बाकी सभी राज्यों में लोककला की समृद्ध परंपरा रही है जिसके जन्मदाता देश के विभिन्न भागों के जनजातीय समुदायों के लोग हैं। इन लोगों को आमतौर पर जंगल के राजा के नाम से भी पुकारा जाता है। सरल शब्दों में कहें तो जनजातीय लोग उन समुदायों के सदस्य हैं जो प्रकृति के बहुत निकट रहते हैं और अपनी रोज़मर्रा की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मुख्य रूप से प्रकृति पर निर्भर हैं। ये लोग स्वभाव से ही यायावर हैं और समाज से अलग–थलग जीवन बिताते हैं। आमतौर पर ये लोग समूहों में रहते हैं और एक–दूसरे से अपनी ही बोली में बात करते हैं।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि वह पहाड़ के घुमंतू लोगों की ज़िंदगी बसर करना चाहते हैं। उनके अनुसार जनजातीय लोगों का जीवन अधिक अनुशासित होता है और वे अपनी अभिव्यक्ति में सरल होते हैं।

महाराष्ट्र की उत्तरी सह्याद्रि पर्वतमाला 'वारली' के नाम से पुकारी जाने वाली एक आदिम जनजाति की निवास स्थली है। 'वारली' शब्द 'वराल' से व्युत्पन्न हुआ है जिसका मतलब है ज़मीन का टुकड़ा। इन लोगों की मान्यता है कि उन्हें अपने रहने और खेती करने की ज़मीन जंगलों से ही मिली है। जंगलों में पेड़ों को काट कर वे अपने लिए घर बनाते हैं। उनके रहने के स्थानों को 'वराल' कहा जाता है और इसी से उनका नाम वारली पड़ा है। वारली जनजाति को महाराष्ट्र की सबसे महत्वपूर्ण जनजातियों में से एक माना जाता है। इन लोगों का प्रकृति के साथ अनोखा रिश्ता है जिसकी वजह से वे महाराष्ट्र की अन्य जनजातियों की तुलना में अलग हैं।

वारली लोगों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी की गतिविधियों से भी प्रकृति के साथ उनके घनिष्ठ संबंधों का पता चलता है। ये लोग आदिवासी जनजाति के हैं जो सह्याद्रि पर्वतमाला की उपत्यका में वनों में रहते हैं। ये लोग कभी वनवासी, शिकारी और संग्रहकर्ता का जीवन बिताते थे। कालांतर में पहाड़ों की तलहटी में बसने को विवश वारली लोगों ने कृषि तथा पशुचारण वाली जीवनशैली अपना ली। अंग्रेज़ों के भारत आने के बाद इनके जीवन में अनेक बदलाव होते दिखाई देते हैं।

वारली लोग मुख्य रूप से महाराष्ट्र के ठाणे, पालघर, मोखदा, तालासारी, विक्रमगढ़, वाडा, जवाहर, दहाणू, कोसबाद, नासिक और धुले ज़िलों; गुजरात के वलसाड और केंद्रशासित प्रदेश दादरा और

नगर हवेली तथा दमन और दीव में रहते हैं। वे प्रकृति के उपासक हैं इसलिए प्रकृति के साथ शांतिपूर्ण और सतत सहअस्तित्व बनाए रखने में उनका विश्वास है, जो उनके चित्रों में भी परिलक्षित होता है। वे वारली बोली बोलते हैं जिसकी कोई लिपि नहीं है। वारली में मराठी, गुजराती, संस्कृत और भारत–आर्य बोली (खानदेशी भिल्ली और मराठी का मिश्रण) शब्दों का व्यापक रूप से इस्तेमाल होता है।

उनका मुख्य व्यवसाय कृषि और उससे संबंधित गतिविधियां हैं। वे धरती माता के उपासक हैं और भोजन की अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए फसलें उगाते हैं। वे साल में सिर्फ एक फसल उगाते हैं और जंगलों से फल तथा जड़ी–बूटियों का भी संकलन करते हैं। कृषि उनका प्रमुख व्यवसाय ही नहीं है, बल्कि उनकी जीवनशैली का हिस्सा है। अपना गुज़र–बसर करने के लिए वे पूरी तरह खेती पर निर्भर हैं। वारली लोगों का जीवन वनों और वन उपज के इर्द–गिर्द घूमता है। वनों से प्राप्त होने वाले बांस का उपयोग वे टोकरियां और चट्टाइयां बनाने में करते हैं जो उनके घरों की बुनियादी आवश्यकताएं हैं। वे बेर, अमरूद, संतरा, चीकू जैसे मौसमी फल भी वनों से इकट्ठा करते हैं और पास के स्थानीय बाज़ार में बेचते हैं। वारली महिलाएं जंगलों से फूल इकट्ठा करती हैं और उत्सवों व त्यौहारों के अवसर पर अपने घरों को सजाने में इनका उपयोग करती हैं। खेती उनका मुख्य पेशा है और वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वन उपज पर भी निर्भर हैं। धरती के प्रति आदर की भावना उनमें इतनी ज्यादा है कि वे अपने खेतों में पूर्वजों की काष्ठ प्रतिमाएं बनाकर स्थापित करते हैं।

वारली पेंटिंग्ज में इस समुदाय के लोगों के जीवन और संस्कृति को प्रदर्शित किया जाता है। आज वारली पेंटर दुनिया भर में मशहूर हैं। पहले केवल महिलाएं अपनी रोज़मर्रा की सामजिक ज़िंदगी के बारे में बताने के लिए चित्रकारी करती थी लेकिन अब पुरुष भी इन्हें बनाने लगे हैं। वारली महिलाओं द्वारा सौभाग्य के लिए मांगलिक अवसरों पर दीवारों पर चित्रित किए जाने वाले स्टिक फिगर (सीधी रेखाओं से बने चित्र) अब पुरुषों द्वारा कागज और कैनवास पर भी उकेरे जाने लगे हैं।

वारली लोगों को आत्मनिर्भर समुदाय माना जाता है और वे प्रकृति से प्राप्त होने वाले हर एक उपहार का बेहतरीन उपयोग करते हैं। इससे वे प्रकृति और प्राकृतिक उत्पादों पर बहुत अधिक निर्भर हो गए हैं। वारली लोग मांसाहारी होते हैं। मछली इस समुदाय के लोगों की नियमित खुराक में शामिल है।

ये लोग हिरण, बकरी, जंगली खरगोश, कबूतर आदि का मांस भी खाते हैं। ये लोग नगली, गेहूं, ज्वार और चावल की रोटी बनाते हैं। पत्तेदार सब्जियां वारली समुदाय के लोगों में बड़ी लोकप्रिय हैं। ये लोग जिन खाद्य तेलों का उपयोग करते हैं उनमें पामोलिन और मूंगफली का तेल प्रमुख हैं।

त्यौहारों, फसलों की कटाई तथा उत्सवों आदि के अवसर पर ताड़ी पीना इन लोगों के लिए बड़ी आम बात है। लगभग सभी लोग इसका उपयोग करते हैं। ताड़ी महुए से बनाई जाती है। वारली लोग खुद पीने के लिए और उत्सव एवं त्यौहारों के अवसर पर दूसरों को बांटने के लिए ताड़ी बनाते हैं। आमतौर पर ये लोग चाय नहीं बनाते क्योंकि गाय और भैंस पालने का इनमें प्रचलन नहीं है। इसलिए ये लोग प्रकृति और प्राकृतिक उत्पादों पर अत्यधिक निर्भर हो गए हैं।

वारली समुदाय में बीड़ी पीने की आदत भी देखी गई है। इनकी बीड़ी असित्रा (तिमरू) की पत्तियों से बनाई जाती है। ज्यादातर जनजातीय लोग बीड़ी पीने के आदी होते हैं इसलिए वे असित्रा की पत्तियों को हमेशा अपनी जेब में रखते हैं। जब भी बीड़ी पीने की तलब होती है, वे इसकी बीड़ी बनाकर पीना शुरू कर देते हैं। उत्सवों–त्यौहारों के अवसर पर पत्तलों में भोजन परोसा जाता है। खाना खाने के लिए साल के पेड़ की 6 से 8 पत्तियों को बांस की पतली और नुकीली तीलियों से जोड़कर पत्तल बनाया जाता है। पारंपरिक पेय ताड़ी पीने के लिए साल की एक बड़ी पत्ती को मोड़ कर शंकु बना लिया जाता है। इन लोगों का कोई भी उत्सव और समारोह ताड़ी के बिना अधूरा रहता है।

वारली आरामदेह एथनिक वस्त्र पहनना पसंद करते हैं। पुरुष आमतौर पर लंगोट की तरह का एक पतला अधोवस्त्र और पगड़ी पहनना पसंद करते हैं जबकि महिलाएं घुटनों तक की साड़ी को बड़े सुरुचिपूर्ण तरीके से पहनती हैं। कुछ अवसरों पर महिलाएं बड़े खूबसूरत और स्टाइलिश तरीके से अपने बालों को गूंथकर केश सज्जा करती हैं।

वारली प्रेतात्माओं और देवी–देवताओं का बड़ा सम्मान करते हैं। वे 'भगत' को अपना गुरु मानते हैं। तंत्र–मंत्र और पुनर्जन्म में भी उनकी आस्था होती है। उनकी संस्कृति में मृतक का दाह–संस्कार करने का रिवाज़ है और इस अनुष्ठान में 'भगत' की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। वे ग्राम देवता की भी पूजा करते हैं और अपने रीति–रिवाजों तथा परंपराओं में भी उनकी गहरी आस्था होती है। देवताओं की पूजा आमतौर पर उनके क्रोध से बचने के लिए की जाती है। वे जल देवता, वन देवता और वायु देवता में विश्वास करते हैं। उनका मानना है कि अगर किसी व्यक्ति की कम उम्र में मौत हो जाती है तो वह इन्हीं देवताओं के अभिशाप के कारण होती है। वे वाघई या बाघ देवता पर आस्था के लिए भी मशहूर हैं। वे उसे 'वाघोबा' के रूप में जानते हैं और खाद्य श्रृंखला को संतुलित बनाए रखने में भूमिका के लिए उसकी पूजा करते हैं। उनके लिए बाघ जीवन और पुनर्जन्म का प्रतीक हैं। वारली लोगों के व्यवस्थित रूप से बने हुए मंदिर नहीं होते, मगर उनमें पूजा के लिए काष्ठ की बनी बाघ की उत्कीर्णित मूर्तियां होती हैं।

उनकी सबसे महत्वपूर्ण कला विधा वारली पेंटिंग्ज हैं लेकिन इस कला के उद्भव के बारे में सही–सही जानकारी नहीं मिलती।

वैसे इसकी शुरुआत 10वीं सदी के प्रारंभ से मानी जाती है। उनकी चित्रकला उनकी परंपराओं और आस्थाओं की द्योतक है। वारली लोगों के घरों की दीवारें मिट्टी की होती हैं। शादी–विवाह, बच्चों के जन्म और फसल कटाई के समय घर की दीवारों और दरवाजों पर चित्रकारी की जाती है। इसके लिए गेरू (जिसे वे लालमाटी कहते हैं) के बारीक पाउडर को पानी में घोलकर दीवारों के कैनवास पर इसका लेपन कर दिया जाता है और पेंटिंग की जाती है। बांस की पतली डंडियों के अगले हिस्से को कूट कर ब्रुश का रूप दे दिया जाता है। वारली लोग अपने चित्रों में केवल सफेद रंग का उपयोग करते हैं। सफेद रंग बनाने के लिए चावल के आटे को पानी में घोलकर उसके साथ पेड़ों से प्राप्त होने वाले गोंद को मिलाया जाता है। वारली पेंटिंग में मूल ज्यामितिक आकृतियों जैसे त्रिकोण, चतुर्भुज, वृत्त और रेखाओं के उपयोग से उन्हें और सुंदर बनाया जाता है। ये सब आकृतियां प्रकृति से प्रेरित हैं। त्रिकोण आकृतियों का उपयोग आमतौर पर पर्वतों और नुकीले वृक्षों को दर्शाने के लिए किया जाता है। वृत्ताकार आकृतियों से सूर्य और चंद्रमा को दर्शाया जाता है। वर्गाकार आकृतियां चौक का प्रतीक हैं जिनका उपयोग मुख्य रूप से विवाह से संबंधित अनुष्ठानों में चित्रकारी करने में किया जाता है। विवाह आदि में चौक का बड़ा महत्व होता है। चौकी के अंदर वे अपनी मातृदेवी–पालघाट को चित्रित करते हैं जो प्रजनन शक्ति की देवी मानी जाती हैं। चौकी बनाते समय सुहागिनी वारली महिलाएं समवेत स्वर में मंगल गीत गाती हैं। शादी–विवाह के अवसर पर 'लग्नचा चौक' यानी लग्न की चौकी बनाई जाती है। इस तरह की पेंटिंग को बड़ा पवित्र माना जाता है और उनके बिना विवाह संभव नहीं होता।

वारली महिलाएं पैर की उंगलियों में बिछुए पहनती हैं। बिछुए और हार (मंगलसूत्र) को सुहागिन होने का प्रतीक माना जाता है। इन्हें पहनकर वे अपने कबीले के सभी देवी–देवताओं को अपने परिवार के विवाह अनुष्ठान में शामिल होने और नवविवाहित जोड़े की बुरी आत्माओं से रक्षा का आशीर्वाद देने के लिए आमंत्रित करती हैं।

वारली पेंटिंग्ज़ में इन लोगों के दैनिक जीवन के संघर्ष को देखा जा सकता है। शिकार करने, मछली पकड़ने, खेती करने, उत्सव मनाने, नृत्य करने जैसी गतिविधियों के अलावा इन पेंटिंग्ज़ में पेड़–पौधों, सांप, चींटी और अन्य जीव–जंतुओं को प्रदर्शित किया जाता है। वारली चित्रकला में इस क्षेत्र के लोगों के जीवन की सरलता को दिखाया जाता है। ये लोग अपने मवेशियों के साथ शांत जीवन व्यतीत करते हैं और अपने जीवन के प्रत्येक पक्ष को अपनी चित्रकृतियों में एक समान महत्व देते हैं। चित्रकला में शब्द तो होते नहीं, फिर भी ये लोग आकृतियो से ही मनुष्यों और जीव–जंतुओं के बारे में अनेक कहानियां कह जाते हैं। अलग–अलग आकृतियां अलग–अलग कहानियों के लिए इस्तेमाल की जाती है। झोंपड़ियां और पेड़–पौधे भी वारली पेंटिंग्ज की खास विशेषताएं हैं।

नृत्य करना वारली संस्कृति का बहुत ज़रूरी हिस्सा है। तारपा नृत्य सबसे प्रसिद्ध नृत्य विधाओं में से एक है। वारली लोगों की परंपरा के अनुसार तारपा बजाने वाला अपने वाद्ययंत्र का निर्माण स्वयं करता है, यह जरूरी है कि किसी अन्य या बाहरी व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं होना चाहिए। इसलिए प्रत्येक तारपा वाद्ययंत्र उनके लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

जब तारपा वाद्ययंत्र बजाया जाता है तो वारली लोग बजाने वाले के इर्द–गिर्द खड़े हो जाते हैं और संगीत की थाप पर थिरकने लगते हैं। लय बदलने पर उनके थिरकते कदमों की लय भी बदल जाती है। सभी लोग तारपा कलाकार की ओर मुंह करके अर्धवृत्त बनाते हुए खड़े हो जाते हैं। नृत्य करते समय उनके हाथ साथ वाले व्यक्ति के कंधों या कमर पर रहते हैं। तारपा नृत्य दिन के समय शुरू होता है और सारी रात चलता है। वारली लोगों के लिए तारपा जीवन की निरंतरता का प्रतीक है। वारली लोग प्रकृति, खासतौर पर सूर्य और चंद्रमा की उपासना के लिए गीत गाते हैं। वारली लोग प्रकृति उपासना के लिए जो गीत गाते हैं, उनमें वे अपने पुरखों का बखान करते हैं। उनके लिए नृत्य बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि इसे करते हुए वे भूख–प्यास, बीमारी, उदासी आदि को भुलाकर थिरकने लगते हैं। तारपा नृत्य आमतौर पर त्यौहारों, उत्सवों और समारोहों जैसे दीवाली, फसल कटाई, शादी–विवाह आदि के अवसर पर किया जाता है और इसका उद्देश्य प्रकृति के प्रति आभार व्यक्त करना होता है। तारपा नृत्य के अलावा वारली लोगों के ढोल नृत्य और गौरी नृत्य भी काफी महत्वपूर्ण हैं।

वारली पेंटिंग्ज में इस समुदाय के लोगों के जीवन और संस्कृति को प्रदर्शित किया जाता है। आज वारली पेंटर दुनिया भर में मशहूर हैं। पहले केवल महिलाएं अपनी रोज़मर्रा की सामजिक ज़िंदगी के बारे में बताने के लिए चित्रकारी करती थी लेकिन अब पुरुष भी इन्हें बनाने लगे हैं। 1970 में जिव्या सोमा माशे ने वारली लोगों के दैनिक जीवन को पेंटिंग्ज़ के ज़रिए चित्रित करना शुरू किया और भारत सरकार ने उन्हें सिद्धहस्त कलाकार का दर्जा दिया। वारली महिलाओं द्वारा सौभाग्य के लिए मांगलिक अवसरों पर दीवारों पर चित्रित किए जाने वाले स्टिक फिगर (सीधी रेखाओं से बने चित्र) अब पुरुषों द्वारा कागज और कैनवास पर भी उकेरे जाने लगे हैं। इससे इस कला को नया आयाम मिला है और उनकी पेंटिंग्ज़ वारली समुदाय के लोगों के लिए आमदनी का नया स्रोत बन गई हैं।

आज के ज़माने में वारली पेंटिंग्ज़ में रेडियो, साइकिल और डबल डेकर बसों जैसी चीज़ों को भी चित्रित किया जाता है। इन पेंटिंग्ज़ को प्रमुख पांच सितारा होटलों, फर्मों, ट्रेंड कर रहे फैशन और कई अन्य स्थानों पर देखा जा सकता है। वारली चित्रकला में नई सृजनशीलता भी देखी जा सकती है जिसका उपयोग उद्यमिता में भी किया जा सकता है और इससे वारली समुदाय को वह महत्व दिलाया जा सकता है जिसके वह हकदार हैं।

(लेखिका आर.जे. कॉलेज ऑफ आर्ट्स, साइंस एंड कॉमर्स (ऑटोनोमस), घाटकोपर (पश्चिम), मुंबई में एसोसिएट प्रोफेसर हैं।)
ई–मेल : sash2mash@yahoo.co.in

पारंपरिक खिलौना उद्योग में असीम संभावनाएं

–दिलशेर धूपिया

अनेक सरकारी पहल, पारंपरिक खिलौनों के बारे में बढ़ती जागरूकता तथा स्थानीय हस्तशिल्प को बढ़ावा देने की देशव्यापी पहल के साथ, भारत का पारंपरिक खिलौना उद्योग अभूतपूर्ण प्रगति की दिशा में लंबी छलांग लगाने को तैयार है। टेक्नोलॉजी संबंधी अनेक नवसृजन से इस उद्योग में बड़ी तेज़ी के साथ आमूलचूल परिवर्तन आ रहा है और ऐसी उम्मीद है कि आने वाले वर्षों में यह उद्योग देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान करने वाला उद्योग बन जाएगा।

भारत के खिलौना उद्योग का इतिहास हमारे देश जितना ही पुराना है। खिलौनों का निर्माण देश के एक कोने से लेकर दूसरे किनारे तक किया जाता है और भारतीय खिलौनों में सांस्कृतिक विविधता की झलक देखने को मिलती है। स्थानीय खिलौनों को बनाने में विभिन्न प्रकार के कच्चे माल का उपयोग किया जाता है जिनमें प्लास्टिक, लकड़ी, रबड़, धातुएं और कपड़ा आदि शामिल हैं। ज्यादातर खिलौने सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यमों में बनाए जाते हैं। खिलौने बनाना श्रम प्रधान उद्योग है जो सिद्धहस्त कलाकारों के हुनर और सृजनशीलता पर निर्भर है।

खिलौने बचपन का अहम हिस्सा हैं और उनसे बच्चों के शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास में मदद मिलती है। तरह–तरह के खिलौनों से खेले जाने वाले खेल और इन्हें चलाने का तरीका समझने से बच्चों को आकार और रंगों की पहचान होती है, उनकी बोधात्मक क्षमताएं बढ़ती हैं और उनकी सृजनात्मक क्षमताओं का विकास होता है। पारंपरिक खिलौने महत्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर भी हैं क्योंकि वे प्राचीन पौराणिक कथाओं तथा विश्वासों को प्रदर्शित करने के साथ–साथ समाज की परंपराओं को भी दर्शाते हैं। उपभोक्ता पारंपरिक खिलौनों की ओर इसलिए आकर्षित होते हैं क्योंकि ये हमारी विरासत के संरक्षण का उपाय हैं और हमारे हस्तशिल्पी व दस्तकार अपनी रोज़ी–रोटी के लिए इन्हीं पर निर्भर हैं।

हस्तनिर्मित खिलौने स्थानीय तौर पर मिलने वाली साधारण सामग्री जैसे लकड़ी, बांस, कपड़ा, धातु की चादर, तार, कागज, कार्डबोर्ड आदि से बनाए जाते हैं। शहरों और औद्योगिक क्षेत्रों के खिलौने बनाने वाले रिसाइकिल की गई बेकार सामग्री जैसे पुराने अखबार, किसी और काम न आने वाले कार्टन, धातुओं के टुकड़ों, डिब्बों तथा टिन के पतरों आदि से खिलौने बनाते हैं। इतना ही नहीं, खिलौनों में मशीनों के बेकार हिस्से–पुर्जों तथा उपकरणों का भी बड़ी सूझबूझ से उपयोग किया जाता है। रिसाइकिल की गई सामग्री का उपयोग करने से कोई ऊपरी लागत भी नहीं आती जिससे इन्हें बनाने वाले अपने खिलौनों को बहुत की कम दामों पर बना और बेच सकते हैं।

भारतीय खिलौना निर्माता उद्योग हज़ारों हस्तशिल्पियों और उनके परिवारों की आजीविका का साधन हैं। यह क्षेत्र महिलाओं के लिए रोज़गार के अवसर जुटाने और ग्रामीण परिवारों के लिए आमदनी का नियमित स्रोत उपलब्ध कराने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। खिलौना कारखानों में 60 प्रतिशत से अधिक कामगार महिलाएं होती हैं।

भारत में खिलौनों का फुटकर बाजार 2020 में करीब 16,000 करोड़ रुपये (2.2 अरब डालर) लागत का था जो विश्व के खिलौना बाज़ार की कुल लागत के एक प्रतिशत से भी कम है। इस समय खिलौनों की 85 प्रतिशत घरेलू मांग चीन, श्रीलंका, मलेशिया, जर्मनी और अमेरिका से पूरी होती है। आयात की मात्रा की तुलना में भारत से सिर्फ 730 करोड़ रुपये (10 करोड़ डॉलर) के खिलौनों का निर्यात होता है। यह व्यापार घाटा बहुत अधिक है क्योंकि भारत में खिलौना उद्योग के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनने की क्षमता है और यह एक ऐसा उद्योग है जिसमें 5 प्रतिशत के वैश्विक औसत विकास दर की तुलना में 10–15 प्रतिशत की दर से विकास हो रहा है। प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी के 'वोकल फॉर लोकल' के आह्वान के साथ ही देश में भारत के पारंपरिक खिलौना उद्योग के विकास और इसे विश्व–स्तर पर लाने के लिए समन्वित प्रयास किए जा रहे हैं।

खिलौना उद्योग को और बढ़ावा देने के लिए सरकार ने निम्नलिखित पहल की हैं:

1. राष्ट्रीय कार्रवाई योजना : देश में खिलौनों का स्थानीय तौर पर उत्पादन करने और खिलौना तथा हस्तशिल्प निर्माताओं को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से विस्तृत राष्ट्रीय कार्ययोजना बनाई गई है। इसे केंद्र के 14 मंत्रालयों के सहयोग से लागू किया जाएगा जिनमें शिक्षा, कपड़ा, रेलवे, विज्ञान और टेक्नोलॉजी तथा सूचना और प्रसारण मंत्रालय शामिल हैं।

2. खिलौना मेला : घरेलू खिलौना उद्योग को बढ़ावा देने की राष्ट्रीय पहल के तहत सरकार ने 27 फरवरी से 3 मार्च, 2021 तक राष्ट्रीय खिलौना मेला आयोजित किया। खिलौना मेले का उद्देश्य पारंपरिक, पारिस्थितिकी की दृष्टि से अनुकूल और स्वदेशी खिलौनों को बढ़ावा देना और स्थानीय खिलौना उद्योग को मदद देकर भारतीय अर्थव्यवस्था को मज़बूत करना है।

3. टॉयकाथॉन : घरेलू खिलौना निर्माताओं, खासतौर पर ग्रामीण उद्यमियों को खिलौनों के विनिर्माण के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से इलेक्ट्रॉनिक्स और सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय के तहत गठित साझा सेवा केंद्र और विशेष कंपनी ने अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् के साथ मिलकर 'टॉयकाथॉन–2021' के आयोजन के लिए हाथ बढ़ाया है। यह अपनी तरह का पहला प्रयास है जिसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति, इतिहास और पौराणिक साहित्य को ध्यान में रखते हुए देसी खिलौनों और खेलों का विकास करना है। टॉयकाथॉन में विद्यार्थियों, शिक्षकों, स्टार्टअप्स, खिलौना विशेषज्ञों और पेशेवर लोगों को सृजनात्मक खिलौनों, खेल और अवधारणाओं के बारे में नवप्रवर्तन करने और इस संबंध में व्यवहार्यता रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित किया गया है। इस आयोजन के लिए 1.2 लाख से अधिक लोगों ने अपना नाम पंजीकृत कराया है। इनमें से 17,000 नये विचार और 13,900 टीमें गठित की गई है जो 50 लाख रुपये तक के कई पुरस्कार जीत सकते हैं।

गंजिफा कार्ड

4. टॉय क्लस्टर कार्यक्रम : भारतीय खिलौना उद्योग का 90 प्रतिशत असंगठित है और देश भर में 4,000 से अधिक सूक्ष्म, लघु और मध्यम उद्यम कार्य कर रहे हैं। ज्यादातर खिलौना निर्माता राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और अन्य भारतीय राज्यों में छोटे–छोटे क्लस्टरों के रूप में हैं। इस क्षेत्र को चुस्त–दुरुस्त बनाने के लिए सरकार ने 2020 में उत्पाद विशेष से संबंधित विशेष आर्थिक क्षेत्रों में खिलौनों के उत्पादन के लिए विशेष औद्योगिक बस्तियों के विकास के कार्यक्रम की घोषणा की। इसका उद्देश्य निर्यात बाज़ार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्हें निर्धारित मानदंडों के अनुसार ढालने और अपने दम पर कायम रहने का माहौल प्रदान करना है। इतना ही नहीं, सरकार हर कदम पर उन्हें प्रोत्साहन उपलब्ध करा रही है। कारखाना लगाने और रियायती दर पर महत्वपूर्ण संसाधन उपलब्ध कराने से लेकर संचालन लागत में रियायत जैसी सुविधाएं उपलब्ध करायी जा रही हैं ताकि उनमें निवेश बढ़े और उनकी निर्यात क्षमता में भी वृद्धि हो।

कई राज्य सरकारें भी इस दिशा में हरकत में आयी हैं और खिलौना नगरियों तथा पार्कों के लिए अलग क्षेत्र आवंटित कर दिए गए हैं। कर्नाटक कोप्पल ज़िले में देश का पहला टॉय क्लस्टर बना रहा है। इसका डिजाईन समावेशी माहौल उपलब्ध कराने के लिए किया जा रहा है ताकि उन्हें सहायक आपूर्तिकर्ताओं के साथ–साथ औद्योगिक व सामाजिक अवसंरचना का भी फायदा मिलता रहे।

इस तरह अनेक सरकारी पहल, पारंपरिक खिलौनों के बारे में बढ़ती जागरूकता तथा स्थानीय हस्तशिल्प को बढ़ावा देने की देशव्यापी पहल के साथ, भारत का पारंपरिक खिलौना उद्योग अभूतपूर्व प्रगति की दिशा में लंबी छलांग लगाने को तैयार है। टेक्नोलॉजी संबंधी अनेक नवसृजन से इस उद्योग में बड़ी तेज़ी के साथ आमूलचूल परिवर्तन आ रहा है और ऐसी उम्मीद है कि आने वाले वर्षों में यह उद्योग देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान करने वाला उद्योग बन जाएगा। पारंपरिक खिलौना उद्योग का विकास सचमुच आत्मनिर्भर नए भारत की परिकल्पना को साकार करने की दिशा में एक कदम है।

(लेखक इन्वेस्ट इंडिया में एसोसिएट हैं। लेख में व्यक्त विचार निजी हैं।)

ई–मेल : dilsher.dhupia@investindia.org.in

सिनेमा : बेहतर भारत के निर्माण का माध्यम

–जाहनु बरुआ

सिनेमा ऐसी कला है जिसके निर्माण में काफी पैसे खर्च होते हैं और इसमें कमाई की भी संभावना होती है, इसलिए कॉरपोरेट घराने और गलत तरीके से कमाई करने वाले भी इस काम से जुड़ जाते हैं। ऐसे में रचनात्मक कला (क्रिएटिव आर्ट) से जुड़े संस्थानों में ज़रूरी बदलाव कर उन्हें मज़बूत बनाने की जरूरत है, ताकि वे संविधान के दायरे में पूरी स्वतंत्रता के साथ काम कर सकें। सिनेमा से जुड़े बीते वर्षों के निष्पक्ष विश्लेषण और स्वस्थ आलोचना के जरिए हम बेहतर ढंग से आगे बढ़ सकते हैं। हमारा इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा है जहां राज्य ने लोककलाओं के संरक्षण और संवर्धन में अहम भूमिका निभाई।

हमारा संविधान बनाने वाले लोग बेहद प्रतिभाशाली थे। उन्होंने शासन प्रणाली को तीन अहम हिस्सों में बांटा: विधायिका या नीति निर्माता, कार्यपालिका और न्यायपालिका। इनमें से दो हिस्सों की भूमिका, हमारे देश और यहां लोगों की किस्मत तय करने में बेहद अहम है। किसी खास मुद्दे पर शासन प्रणाली से जुड़े लोगों की समझ कैसी है, इसी से तय होता है कि कैसी नीतियां बनेंगी और उन पर अमल कितने कारगर ढंग से हो सकेगा। शासन प्रणाली से जुड़े लोगों में मुद्दों को लेकर समझ के स्तर से ही किसी बड़े और बेहतर लक्ष्य की सफलता या असफलता की संभावनाओं का आकलन किया जा सकता है। अगर किसी मुद्दे या पहलू को बुनियादी–स्तर पर ही बेहतर ढंग से समझने की कोशिश की जाए, तो राष्ट्र के निर्माण के लिए बेहतर नीति बन सकेगी। इसी सिलसिले में बात को आगे बढ़ाया जाए, तो मुझे लगता है कि हमारे नीति निर्माता और नौकरशाह, भारत जैसे देश में एक माध्यम के तौर पर सिनेमा और उसकी भूमिका से जुड़ी प्रभावी नीतियां बनाने में असफल रहे हैं। इस पर बाद में और विस्तार से चर्चा की जाएगी।

'सिनेमा' कला का एक रूप है। यह मुख्य रूप से कहानी कहने की कला है और कहानियां, काल्पनिक और सच, दोनों हो सकती हैं। सिनेमा को संचार का सबसे सशक्त और लोकप्रिय माध्यम कहा जा सकता है। हालांकि, देश की स्वतंत्रता के बाद से नीति निर्माण के स्तर पर यह कला का सबसे उपेक्षित स्वरूप रहा है। वैसे 1947 से पहले भी इसकी स्थिति कोई खास अच्छी नहीं थी, लेकिन उस वक्त नीति निर्माण का काम औपनिवेशिक शासन के हाथ में था, लिहाज़ा इस शासन से उम्मीद करना बेमानी था।

भारत को स्वतंत्रता मिलने के बाद के शुरुआती वर्षों में यहां शिक्षा, कृषि और विकास जैसे ज़रूरी मुद्दों पर ध्यान केंद्रित किया गया। इस वजह से भारतीय प्रशासनिक सेवा के सिस्टम में कला और संस्कृति से जुड़े प्रशिक्षण के लिए सीमित गुंजाइश थी। इससे अनुभवी और काबिल नेताओं के लिए मुश्किलें और बढ़ गईं। उन्हें इस बारे में बताने वाला कोई नहीं था कि नया भारत बनाने

और नागरिकों के चरित्र निर्माण में सिनेमा अहम भूमिका निभा सकता है।

सिनेमा इस वजह से भी ज़रूरी अहमियत हासिल नहीं कर पाया, क्योंकि उस वक्त बड़े पैमाने पर धारणा थी कि यह सिर्फ मनोरंजन का माध्यम है और इसे किसी और नज़रिये से नहीं देखा जा सकता। यह बात नीति निर्माताओं की कल्पना से परे थी कि राष्ट्र निर्माण में सिनेमा का इस्तेमाल किया जा सकता है। अखिल भारतीय सेवाओं और यहां तक कि राज्यों से जुड़ी सेवाओं की प्रशिक्षण अकादमियों में भी प्रशिक्षण के लिए सिनेमा या किसी क्रिएटिव माध्यम का कभी इस्तेमाल नहीं किया गया, जिससे प्रशिक्षणों में सिनेमा जैसे माध्यम को शामिल कर लोगों के जीवन के अलग–अलग पहलुओं के बारे में नौकरशाहों और नीति निर्माताओं की समझ को बेहतर बनाया जा सकता था। ऐसा नहीं किए जाने के परिणाम हम साफतौर पर देख सकते हैं। भारत उस माध्यम से लाभ नहीं उठा पाया, जिसे मैं विभिन्न देशों (खासतौर पर यूरोप में) में सीखने का सबसे ताकतवर माध्यम (सिनेमा) कहता हूं।

कहानी कहने की परंपराः कहानी की ताकत

दुर्भाग्य की बात यह है कि अपने 5,000 साल पुराने इतिहास पर गर्व करने वाला यह देश कहानियों के माध्यम से लोगों तक जरूरी बात पहुंचाने की कला का इस्तेमाल करने में सफल नहीं रहा है। कला का यह रूप हमारी सभ्यता के लिए बेहद अहम है। प्राचीनकाल में राजा अपने साथ ऐसे लोग रखते थे जो उन्हें नियमित तौर पर कहानियां सुनाया करते थे। हालांकि, शासकों या राजाओं के लिए यह सिर्फ मनोरंजन का माध्यम नहीं था। इन कहानियों से उन्हें लोगों और समाज की जटिलताओं को समझने में मदद मिलती थी।

> क्षेत्रीय सिनेमा की खूबसूरती यही है कि यह वास्तविक भारत की कहानियां कहने की कोशिश करता है। इसे मैं वास्तविक सिनेमा भी कहना चाहूंगा। हालांकि, सरकारी नीतियों और असंवेदनशील लोगों की वजह से ये फिल्में उपेक्षा का शिकार हैं। सिनेमा पर पैसा और प्रचार–तंत्र काफी हावी हो गया है।

कहानियों के माध्यम से राजा अपनी रियासत में हो रही गतिविधियों में बारे में वास्तविक और व्यावहारिक जानकारी हासिल कर पाते थे। इससे राजा को काफी कुछ सीखने को मिलता था और उन्हें अपनी गलतियों के बारे में भी आत्मनिरीक्षण करने का मौका मिलता था। उदाहरण के तौर पर, कहानियां सुनाने वाले महाभारत, रामायण और भगवद् गीता के उद्धरण के माध्यम से राजाओं को जीवन की सच्चाइयों से रूबरू कराते थे और सही–गलत, न्याय–अन्याय, मानवीयता–अमानवीयता आदि के बारे में बताने की कोशिश करते थे। यहां की कहानियों को सुनकर (मुख्य तौर पर महाभारत, जातक कथाएं) भारत के कई मुसलमान शासकों की आक्रमणकारी प्रवृत्तियों में बदलाव देखने को मिला। अकबर को इसका प्रमुख उदाहरण माना जा सकता है।

मुगल शासकों में सबसे संतुलित शासक माने जाने वाले अकबर ने अपने नवरत्नों में बीरबल (महेश दास) को शामिल किया था। बीरबल को उनकी बुद्धि, रचनात्मकता, हाजिरजवाबी, लोककथाओं की समझ और धार्मिक ग्रंथों की विशेषज्ञता के लिए जाना जाता है। वह कविता और साहित्य के भी जानकार थे। दरअसल, अकबर को बीरबल के काम करने के तरीकों पर पूरा विश्वास था और उन्हें धीरे–धीरे यह भी लगने लगा था कि प्राचीन भारत की कहानियों में कई तरह के ज्ञान छिपे हैं। बीरबल के साथ नियमित तौर पर संवाद और उनके द्वारा सुनाई गई कहानियों से अकबर को अपने दरबार की समस्याओं को सुलझाने, नीतियां बनाने आदि में काफी मदद मिली। इस तरह, लोगों की समस्याओं को देखने के लिए अकबर को अलग–अलग नज़रिया मिला।

हालांकि, बीरबल की मौत अकबर से काफी पहले हो गई थी, लेकिन उनकी कहानियां अकबर की आध्यात्मिक सोच को बेहतर बनाने का काम करती रहीं और तमाम मुगल बादशाहों में अकबर का रवैया सबसे उदारवादी रहा। कहानियां सुनाने की यह परंपरा राजा और उनके दरबारियों तक सीमित नहीं थी। आम लोगों के भी अपने 'बीरबल' थे और वे अपने आसपास मौजूद ऐसे रत्नों से काफी फायदा उठाते थे। आधुनिक भारत में सिनेमा, कहानियां सुनाने के सशक्त माध्यम के तौर पर मौजूद हैं, लेकिन उसमें बेहतरीन

कहानियां और उनकी संवेदनशीलता गायब है। लिहाज़ा, जनता को इस प्रभावी माध्यम का लाभ भी नहीं मिल पाता है। इसके बजाय कहानियों के रूप में जो सामग्री हमारे पास है, उसमें संवेदनशीलता और सार्थकता का अभाव है। बेसिर–पैर वाली इन कहानियों में सिर्फ व्यावसायिकता हावी है।

पिछले 100 साल या इससे भी ज़्यादा अवधि के दौरान, हमने जीवन के अहम मुद्दों को लेकर लोगों को शिक्षित करने और संवेदनशील बनाने का मौका गंवाया है। बीरबल की कहानियों का संबंध सिर्फ अकबर की रियासत से नहीं था। बीरबल के पास तत्कालीन भारत के सभी हिस्सों और आसपास के क्षेत्रों की भी कहानियां होती थीं। उनमें मानवता की बात होती थी, न कि क्षेत्रों की। इन कहानियों में बहादुरी और शौर्य के बजाय बुद्धिमता और संवेदनशीलता का ज़िक्र होता था। इन कहानियों ने अकबर के दिमाग में एक धर्मनिरपेक्ष हिंदुस्तान की छवि गढ़ने में मदद की और इसी हिसाब से बादशाह ने अपनी नीतियों को तैयार किया।

> बॉलीवुड ने भारतीय सिनेमा और कहानी पेश करने की कला को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाया है। इसने देश और दुनिया में भारत को गलत तरीके से दिखाया है। इससे भारत की पहचान को काफी नुकसान पहुंचा है। दुख की बात यह है कि अक्सर हमारे नीति निर्माता और नौकरशाह भी इसकी तारीफ करते नज़र आते हैं।

हमारे पास अभी जो कहानियां हैं, उनमें मोटे तौर पर सिर्फ एक तरह की इकाई यानी एक भारत को ध्यान में रखा गया है। इन कहानियों में भारत की विविधता को बेहतर ढंग से नहीं पेश किया गया है। क्षेत्रीय सिनेमा की खूबसूरती यही है कि यह वास्तविक भारत की कहानियां कहने की कोशिश करता है। इसे मैं वास्तविक सिनेमा भी कहना चाहूंगा। हालांकि, सरकारी नीतियों और असंवेदनशील लोगों की वजह से ये फिल्में उपेक्षा का शिकार हैं। सिनेमा पर पैसा और प्रचार–तंत्र काफी हावी हो गया है। इस वजह से दूसरे क्षेत्रों या अपने यहां की क्षेत्रीय फिल्मों में लोगों की दिलचस्पी काफी कम हो गई है। इससे दुर्भाग्यपूर्ण बात क्या हो सकती है: किसी पंजाबी या गुजराती की असमिया या ओड़िया फिल्म में दिलचस्पी होने की संभावना नहीं के बराबर होती है! इसी तरह, असम या बंगाल का कोई शख्स मलयालम, गुजराती या मराठी फिल्म को लेकर उत्साहित हो, इसकी संभावना बेहद कम होती है।

मेरी राय के मुताबिक, क्षेत्रीय–स्तर पर बने ये सिनेमा महात्मा गांधी की 'स्वराज' की अवधारणा को पेश करते हैं: अपनी ज़मीन/क्षेत्र के बारे में जानें, अपने संसाधनों के बारे में जानें। गांधी की इस विरासत को सिर्फ क्षेत्रीय सिनेमा ही आगे बढ़ाता है। ऐसे सिनेमा में आमतौर पर किसी राज्य या क्षेत्र की कहानियां होती हैं। इस तरह का सिनेमा, लोगों के लिए अपने देश के बारे में जानने का सबसे बेहतर स्रोत है। दुर्भाग्य से, इस दिशा में लोगों की दिलचस्पी बढ़ाने के लिए हमने कभी काम नहीं किया।

सत्यजीत रे की 'पाथेर पांचाली' जैसी फिल्मों को सिर्फ क्षेत्रीय

सिनेमा की श्रेणी में रखना ठीक नहीं होगा। सिनेमा के क्षेत्र में भारत की छवि को बेहतर बनाने में इस फिल्म ने अहम भूमिका निभाई है। क्या आज के भारत में इसके बराबर कोई फिल्म है? इसके बावजूद, क्षेत्रीय और अन्य फिल्मों के बीच गैर–बराबरी काफी ज़्यादा है। कुल मिलाकर कहें तो बॉलीवुड (भारत और यहां के ज़्यादातर लोग जो सिनेमा देखते हैं) ने भारतीय सिनेमा और कहानी पेश करने की कला को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाया है। इसने देश और दुनिया में भारत को गलत तरीके से दिखाया है। इससे भारत की पहचान को काफी नुकसान पहुंचा है। दुख की बात यह है कि अक्सर हमारे नीति निर्माता और नौकरशाह भी इसकी तारीफ करते नज़र आते हैं।

उम्मीद बाकी है

इन तमाम कमियों और चुनौतियों के बावजूद अभी भी बेहतरी की उम्मीद बाकी है। कला के एक माध्यम के तौर पर सिनेमा रचनात्मकता यानी कला–संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस देश के लिए कला और संस्कृति पर परिपक्व राष्ट्रीय नीति बनाने की ज़रूरत है, जो लोगों को इस माध्यम का लाभ उठाने में योगदान कर सके। कहने का मतलब है कि सिनेमा न सिर्फ लोगों का मनोरंजन करे, बल्कि लोगों को शिक्षित और जागरूक भी करे। चूंकि सिनेमा ऐसी कला है जिसके निर्माण में काफी पैसे खर्च होते हैं और इसमें कमाई की भी संभावना होती है, इसलिए कॉरपोरेट घराने और गलत तरीके से कमाई करने वाले भी इस काम से जुड़ जाते हैं। ऐसे में रचनात्मक कला (क्रिएटिव आर्ट) से जुड़े संस्थानों में ज़रूरी बदलाव कर उन्हें मज़बूत बनाने की जरूरत है, ताकि वे संविधान के दायरे में पूरी स्वतंत्रता के साथ काम कर सकें। सिनेमा से जुड़े बीते वर्षों के निष्पक्ष विश्लेषण और स्वस्थ आलोचना के जरिए हम बेहतर ढंग से आगे बढ़ सकते हैं। हमारा इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा है जहां राज्य ने लोककलाओं के संरक्षण और संवर्धन में अहम भूमिका निभाई।

कला के एक माध्यम के तौर पर सिनेमा रचनात्मकता यानी कला–संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस देश के लिए कला और संस्कृति पर परिपक्व राष्ट्रीय नीति बनाने की ज़रूरत है, जो लोगों को इस माध्यम का लाभ उठाने में योगदान कर सके। कहने का मतलब है कि सिनेमा न सिर्फ लोगों का मनोरंजन करे, बल्कि लोगों को शिक्षित और जागरूक भी करे।

क्या यह शर्म की बात नहीं है कि दुनिया भर में सबसे ज्यादा फिल्में बनाने वाले देश को सिनेमा की दुनिया में गंभीरता से नहीं लिया जाता? मैं यहां विभिन्न भारतीय दूतावासों और वाणिज्य दूतावासों को लेकर अपने अनुभव के बारे में भी बताना चाहूंगा। चूंकि दूतावास हमारे देश का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिए वहां पर ऐसी फिल्में दिखाने की ज़रूरत है जिससे विदेशी नागरिक हमारे देश से जुड़ सकें। मैंने पिछले 40 साल के दौरान विभिन्न देशों की अपनी यात्राओं के दौरान पाया है कि हमारे दूतावास मुख्य तौर पर ऐसी फिल्में दिखाते हैं जो शायद प्रवासी भारतीयों को पसंद आएं। इस तरह, 'बॉलीवुड' के नाम पर भारत को गलत तरीके से पेश करने का सिलसिला जारी है। जब मैं जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन और यहां तक कि पौलेंड के सांस्कृतिक संस्थानों के काम से अपने देश के ऐसे काम की तुलना करता हूं, तो पता चलता है कि भारतीय दूतावासों में मौजूद लोगों का नज़रिया ही इस समस्या की मुख्य वजह है। सिनेमा को प्रोपगेंडा बनाने की किसी भी तरह की कोशिश का असर उल्टा होता है। कुछ देशों को इसका खामियाजा भी भुगतान पड़ा है। बहरहाल, सिनेमा को राजनीति या प्रोपगेंडा का हथियार बनाना बड़ी भूल होगी। यह बेहतर चरित्र निर्माण और रचनात्मकता बढ़ाने का माध्यम है। इसमें मानवता को एकजुट करने की ताकत है। सिनेमा ऐसा माध्यम है जिसकी नए भारत को सख्त ज़रूरत है।

(लेखक जाने–माने फिल्म निर्देशक और वरिष्ठ लेखक हैं। भारतीय सिनेमा में योगदान के लिए उन्हें पद्मश्री और पद्मभूषण सहित कई सम्मानों से पुरस्कृत किया जा चुका है।)

ईमेल : jahnubarua@gmail.com

भारत में प्रदर्शन कला का संरक्षण और संवर्धन

–सुमन कुमार

21वीं शताब्दी में बाज़ार प्रदर्शन कलाओं को अपनी विषय–वस्तु, रूप और शैली को बदलने और बाज़ार के अनुरूप खुद को ढालने का दबाव डाल रहा है। यदि कोई प्रदर्शन परंपरा बाज़ार से अपनी यात्रा शुरू करती है तो वह धीरे–धीरे अपना पारंपरिक आधार, दर्शन और बारीकियों को खो देती है और केवल एक उपकरण बन जाती है तथा मात्र जीविका अर्जित करना उसका उद्देश्य बन जाता है। धीरे–धीरे हम अपनी भाषाओं, जातीय शैलियों, स्थानीय अभिव्यक्तियों, मातृभाषा को खो रहे हैं।

प्रदर्शन कला जिसकी प्रस्तुति दर्शकों/श्रोतागणों के समक्ष की जाती है अपनी विषयवस्तु, रूप, शैली और सुंदरता के लिए सराही जाती है। आंख और कान के माध्यम से यह मनुष्य के चित्त को प्रसन्न करती है। संगीत, नृत्य और नाटक ऐसे कला रूप हैं जो पारंपरिक रूप से दर्शकों के सामने मंच पर प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। भाषा से पहले भी प्रदर्शन कला की विभिन्न विधाएं गीत, नृत्य, और कलाकार के संवाद में रचे मनुष्य के अनुभव, भावनाओं और अभिव्यक्तियों को प्रलेखित करने का माध्यम थीं। वे परिवर्तन/विरासत या फिर एक जीवित व्यक्ति के अनुभव से दूसरे व्यक्ति को प्राप्त ज्ञान को प्रदर्शन संहिताओं के जरिए सांझा करते रहते हैं। प्रदर्शन के दौरान आप अंतर्ज्ञान से आलोकित होते हैं।

प्रदर्शन कलाएं अमूर्त सांस्कृतिक विरासत को संजोये रखने के आधान हैं। प्रदर्शन कलाओं में हमारे पूर्वजों से मौखिक परंपराओं, गीत, नृत्य और नाटक जैसी विविध कलाओं के रूप में विरासत में प्राप्त परंपराओं या जीवंत अभिव्यक्तियों को शामिल किया जाता है। सभी सजीव प्रदर्शन कलाशैलियां दर्शकों/श्रोतागणों को सजीव अनुभव प्रदान करने के बाद समाप्त होने के लिए बनाई जाती हैं। यह केवल देखने वालों के स्मृति पटल में ही बसती हैं। इस सजीव अनुभव की बहुत कम मात्रा भावी पीढ़ी के लिए दस्तावेज़ में परिवर्तित होती है। सभी प्रदर्शन कलाएं भंगुर, अमूर्त हैं और एक प्रकार की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत हैं जिसके कारण बढ़ते वैश्वीकरण के युग में संरक्षित इस सांस्कृतिक विविधता को प्रदर्शित करना आवश्यक हो जाता है।

किसी के सामने हमारे सांस्कृतिक घटक हमारी पहचान और गौरव का विषय बन जाते हैं। हम सभी का मानना है कि हमारा देश संगीत, नृत्य और नाटक के रूप में विविध प्रदर्शन कला परंपराओं का भंडार है। वे हमारे लोकप्रिय फिल्म उद्योग के लिए उपादान हैं। हम देखते हैं कि कई टेलीविजन शो इतने आकर्षक इसलिए हैं क्योंकि उनमें प्रदर्शन कला में प्रतिभा दिखाई जाती है। दुनिया भर में मौजूद दर्शक उन्हें बेहद पसंद करते हैं। वे सभी सजीव प्रदर्शन कला अभिव्यक्तियों के कारण है।

21वीं शताब्दी में बाज़ार प्रदर्शन कलाओं को अपनी विषय–वस्तु,

रूप और शैली को बदलने और बाज़ार के अनुरूप खुद को ढालने का दबाव डाल रहा है। यदि कोई प्रदर्शन परंपरा बाज़ार से अपनी यात्रा शुरू करती है तो वह धीरे–धीरे अपना पारंपरिक आधार, दर्शन और बारीकियों को खो देती है और केवल एक उपकरण बन जाती है तथा जीविका अर्जित करना उसका उद्देश्य बन जाता है। धीरे–धीरे हम अपनी भाषाओं, जातीय शैलियों, स्थानीय अभिव्यक्तियों, मातृभाषा को खो रहे हैं। हम अनुकूलनीय प्राणी हैं, इसलिए यह खतरा है कि उत्तरजीविता के नाम पर हम कई मानवीय अभिव्यक्तियों की अनदेखी कर सकते हैं जो मानवता, सामुदायिक बंधन, पहचान और गौरव की अनुभूति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं और वे अपनी प्रासंगिकता खो देंगे यदि उन्हें व्यवहार में नहीं लाया गया; पुनः खोजा और संरक्षित नहीं किया गया। संरक्षण एक तरह से मौलिकता खोए बगैर सजीव निरूपण के श्रेष्ठ–स्तर को बनाए रखने, मौजूदा परंपराओं को लेकर प्रदर्शन कलाओं की रचना में हितधारकों की विरासत में प्राप्त तकनीक का दस्तावेज़ है। प्रदर्शन कलाओं का मौखिक परंपराओं और अभिव्यक्तियों, मौखिक/गैर–मौखिक के साथ गहरा संबंध है। प्रदर्शन कला मानव चरित्र और व्यवहार तथा सामाजिक प्रथाओं, अनुष्ठानों और उत्सवों की सांस्कृतिक पारिस्थितिकी को खोजती है। यह प्रकृति और ब्रह्मांड के बारे में एक सामुदायिक प्रतिनिधि के ज्ञान और अभ्यास से सरोकार रखती है। वे हवा, आकाश, जीव, और पृथ्वी की चाल और प्रतीकों को समझते हैं। प्रदर्शन कलाएं गीत, संगीत, नृत्य और नाटक के रूप में मानव पात्रों की परस्पर विरोधी कहानियों की खोज करके पीढ़ियों के बीच एक स्वाभाविक सेतु बनाती हैं। गीत और नृत्य शब्दों, धुनों और लय की पुनरावृत्ति का उपयोग करते हैं जो मनुष्य द्वारा आसानी से याद किया जाता है और जिसके जरिए वे अपनी कल्पना की उड़ान भर कर उन्हें सजीव व्यक्ति के चित्त, शरीर और आवाज में किसी रचना में अभिव्यक्त करते हैं। प्रदर्शन कलाएं न केवल मनुष्य की अमूर्त भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अभ्यास करती हैं बल्कि भावों को सशक्त रूप से अभिव्यक्त करने के लिए पारंपरिक और अभिनव शिल्प कौशल का उपयोग करती हैं।

प्रदर्शन कलाओं को सुरक्षित रखने की आवश्यकता है क्योंकि यह एक मानवीय, स्थानीय जुड़ाव वाली, समुदाय–आधारित जीवन पद्धति है और एक मज़बूत व्यावसायिक व्यवस्था के बिना स्थापित बाज़ार के समक्ष एक चुनौती है। यह सांस्कृतिक विविधता और मानव रचनात्मकता के लिए सम्मान को बढ़ावा देती हैं। उन्हें प्रदर्शन कला के विविध रूपों और शैलियों को बनाए रखने के महत्व के समुदाय/समाज/शहर के सदस्यों के बारे में जानकारी होती है। वे मानव को अपनी जड़ों से जोड़े रखने की कोशिश करती हैं।

भारत में प्रदर्शन कलाओं का भंडार है। भरतनाट्यम, कथकली, कथक, मणिपुरी, ओडिसी, कुचिपुड़ी, सत्तारिया, मोहिनीअट्टम भारत के शास्त्रीय नृत्यों के रूप में पहचाने जाते हैं। संगीत में हमारे पास हिंदुस्तानी और कर्नाटक शास्त्रीय संगीत प्रभाग हैं। भारत आने वाले पर्यटकों के लिए पारंपरिक, अनुष्ठानिक, क्षेत्रीय और लोक–संगीत, नृत्य और नाटक जैसे बहुत आकर्षक अनुभव प्राप्त करने के विकल्प हैं। वे प्रदर्शन कलाशैलियों का आनंद लेने जाते हैं जैसे उत्तर प्रदेश के रास, रसिया गीत, नौटंकी, बिरहा, सोहर, होरी, धोबिया नृत्य, आल्हा, रामलीला; राजस्थान के पंखिड़ा, लोटिया, घूमर, कालबेलिया, स्वांग, फड़, लंगा और मांगणियार, ख्याल, लावणी; छत्तीसगढ़/मध्य प्रदेश के पंडवानी, बांस गीत, लोरिकी, नाचा; कुमाऊं का रामलीला, शकुनाखर, मंगलजीत, देवजीत, बारामासा; गोवा का मांडो, दसावतार, रंगमंच; जम्मू और कश्मीर के चक्कारी, भांड पाथेर, रऊफ, बछनागामा, भाखा; हिमाचल प्रदेश का लामन; पंजाब का टप्पा, भांड मिरासी, जुगनी, धड सारंगी, अलगोजा, हीर, भांगड़ा, गिद्दा, शबद कीर्तन, हरियाणा की सांग/स्वांग रागिनी; महाराष्ट्र का पोवाड़ा, लावणी, तमाशा, दसावतार, झाड़ीपट्टी; आंध्रप्रदेश के बुर्राकथा; केरल के भूता गीत, कुटियट्टम, कथकली, मोहिनीअट्टम, मुदियेट्टू, छविट्टनाटम; ओडिशा का दसकाठीया, प्रह्लाद नाटक, भरतलीला, रामलीला, छऊ; असम के बिहू, सतारिया, गायन बायन, टोकरी गीत, जिकिर जरी, ओजापाली, धूलिया सर्कस, मोबिअल थिएटर, देवधानी, भावोना; मणिपुर का लाई हरोबा, मणिपुरी रास, सुमंग लीला, पुंग चोलम, ढोल चोलम, मोइरांग पर्व, सैकुती ज़ई, मिज़ोरम का बांस नृत्य, गढ़वाल का बसंत गीत, घसियारी गीत; बिहार के सलहेस नाच, चंदैनी, विदापत, भिखारी ठाकुर की बिदेसिया, चैती, जट जतिन, बारामासा, पूरवी, होरी, जोगीदा; तमिलनाडु के विल्लुपाट्ट, अम्मानाइवरी, त्रिपुरा का होजगिरि; झारखंड का छऊ; झुमइर, पश्चिम बंगाल का चांद बीवीर पाला गान, बाउल, छऊ, जात्रा, गुजरात के भवई, गरबा, डांडिया भारत की लोकप्रिय अभिव्यक्तियां हैं।

हर दिन भारत में कलाकारों द्वारा कई क्षेत्रीय, पारंपरिक, समकालीन, नाटक और संगीत संबंधी और नृत्य की अभिव्यक्तियां आम दर्शकगण के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं। प्रदर्शन न केवल मंच पर बल्कि कई अन्य स्थानों में भी होते हैं, जैसे छत, उद्यान, हॉल, मैदान आदि।

प्रदर्शन करने वाले कलाकार लोकतंत्र के आदर्शों का सही मायनों में पालन करते हैं। प्रदर्शन कला के क्षेत्र में, किसी भी प्रकार के भेदभाव की अनुमति नहीं है। कलाकार जन्मजात उदारवादी होते हैं और शांति और सद्भाव में विश्वास करते हैं क्योंकि केवल शांति प्रदर्शन कला को पनपने के लिए एक परिवेश प्रदान करती है। सभी कलाएं अपने तत्वों को कुछ इस तरह जोड़ती हैं कि यह अंततः दर्शक के दिल को प्रसन्न करती हैं।

इस प्रकार प्रदर्शन कला मानव संस्कृति का एक बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा है क्योंकि

- यह समाज के बंधनों को रचनात्मक और अर्थपूर्ण बनाती है।
- यह व्यक्तियों और समुदायों की भावना को व्यक्त करने और स्वीकार्य समाधान खोजने के लिए एक साझा मंच प्रदान करता है जो लोकतांत्रिक और अहिंसात्मक होता है।
- यह मानव मूल्यों को समझने के लिए प्रदर्शन कला की मानव प्रयोगशाला में एक विचार के साथ प्रयोग करती है।
- यह भावना के साथ एक कहानी/स्थिति का बखान करती है।
- यह विषय, निहितार्थ, और सजीव प्रदर्शन के रूप में मनुष्य की

सामान्य समझ का दस्तावेज़ है।

- प्रदर्शन कला का अभ्यास आपके शरीर, आवाज़ और दिमाग को दुरुस्त रखता है।
- यह मानव समाज द्वारा स्थानीय स्तर पर या सार्वभौमिक रूप से संघर्षों/समस्याओं का समाधान करने के लिए विचारों, धारणाओं और दर्शन की पुनः चर्चा करती है।
- यह पारिस्थितिकी, मानव, वस्तुओं, तत्वों को मूर्त रूप देती है और चरित्रों का रूप धारण करके मानव के बेहतर अस्तित्व की आपसी समझ विकसित करती है।
- यह एक विचार, एक चरित्र, और भावना को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने के लिए अपने शरीर, आवाज़ और मन को नियंत्रित करने के लिए मनुष्यों के कौशल को विकसित करती है।
- यह कलाकारों को उनके दृष्टिकोण से एक चरित्र को समझने के लिए उनमें पर्यवेक्षक सदृश बोध विकसित करती है।
- प्रदर्शन कला आपको रंगमंच, टेलीविज़न और सिनेमा कलाकारों के तौर पर एक सफल उज्ज्वल आजीविका दे सकती है। आप विभिन्न उत्पादों के लिए एक मॉडल बन सकते हैं। बहुत से कलाकार वैभवशाली जीवन जीते हैं।
- आप ज्ञान अर्जित कर सकते हैं और एक अच्छे वक्ता बन सकते हैं।
- प्रदर्शन कलाएं सामाजिक प्रयोगशालाएं हैं जो सभी कलाओं, साथियों, पृथ्वी, पर्यावरण और ब्रह्मांड के प्रति मानवीय संवेदना को उकेरती हैं।
- प्रदर्शन कलाओं से जुड़े कलाकार समस्याओं को हल करने में सक्षम हैं; वे आसानी से लोगों और जनमानस से जुड़ते हैं और उन पर समुदाय का विश्वास होता है।
- परंपरागत रूप से प्रदर्शन कलाएं मुक्त सामाजिक स्कूल थे जो एक इंसान के आदर्शों, धर्म, आत्मगौरव, समुदाय की भावना और गरिमा के बारे में लोगों को सिखाते थे।
- वे आपको समाज के अधिनायक बनाते हैं।
- प्रदर्शन कलाओं से जुड़े कलाकार दर्शकों के दिमाग पर राज करते हैं इसलिए एनजीओ द्वारा जागरूकता अभियान चलाने के लिए उनको पसंद किया जाता है।
- एक कलाकार के रूप में आप अमिट सफलता प्राप्त कर सकते हैं और आपके हज़ारों अनुयायी हो सकते हैं।
- मंच/फिल्म/टीवी पर लोकप्रिय होने वाले कई कलाकार सफल राजनेता हैं क्योंकि वे भाषण और प्रभावी संचार की कला को जानते हैं।
- हमारे देश में प्रदर्शन कला उद्योग बहुत बड़ा है और हज़ारों कारीगरों, तकनीशियनों, अभिनेताओं, हॉल मालिकों, आदि के लिए अपनी आजीविका अर्जित करने का माध्यम है।
- हम मनुष्यों के पास एक जीवनकाल है और हम एक ही जीवन में कई जीवन का आनंद लेना चाहते हैं जो एक कलाकार के लिए अभिनय की विभिन्न प्रस्तुतियों के कारण संभव है।
- चरित्र एक महान भूमिका निभाता है जैसा कहा जाता है कि मज़बूत चरित्र से एक सफल कहानी बनती है। प्रदर्शन कलाएं आपको स्वयं अपने मानव संसाधनों के द्वारा एक मज़बूत तार्किक चरित्र को समझने और विकसित करने का काम करती हैं।

प्रदर्शन कलाएं एक अमूर्त सांस्कृतिक अनुभव की रचना करती हैं जिसे संरक्षित, सुरक्षित और समुदाय के लिए प्रासंगिक बनाने, पुनः निर्मित करने और अगली पीढ़ी को विरासत के रूप में प्रदान करने की आवश्यकता होती है। हमें विविध और विभिन्न परिस्थितियों, विकास और विवेचना के साथ–साथ मूर्त और अमूर्त तत्वों को सुदृढ़ करने का प्रयास करना चाहिए और साथ ही उन्हें भावी पीढ़ियों को सौंपना सुनिश्चित करना चाहिए जो पहचान और निरंतरता का एक मज़बूत भाव प्रदान कर सकते हैं।

हमें विशिष्ट पद्धतियों, निरूपणों, अभिव्यक्तियों, ज्ञान और कौशल, उपयुक्त वाद्य यंत्रों, वस्तुओं, कलाकृतियों और सांस्कृतिक

स्थानों और रूपों को अंगीकार करने के लिए विभिन्न प्रदर्शन कलाओं के प्रदर्शन को दिखाने का अवसर तलाशना चाहिए। क्षेत्रीय–स्तर पर सजीव प्रदर्शन कलाओं के एक विशिष्ट संग्रहालय (लिविंग होम) की परिकल्पना को विकसित करना समय की मांग है जिससे भारत के विभिन्न भागों में अनेक सजीव शैलियों को संरक्षित किया जा सकेगा। प्रदर्शन कला के इन सजीव स्थलों में इसके विभिन्न आयामों के प्रति जागरूकता बढ़ाने और उनकी जनमानस तक पहुंच सुगम बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे समुदाय और व्यक्ति की रचनात्मकता और आत्मसम्मान को प्रोत्साहन मिले और प्रभावी अभिव्यक्तियां उत्पन्न हो सकें। हमें कला की सर्वोत्तम विधाओं को खोजने और परिभाषित करने के लिए विद्वानों, शोधकर्ताओं की आवश्यकता है। राज्य को अपने क्षेत्रों में प्रदर्शन कलाओं की प्रस्तुति और उपस्थिति के प्रति संवेदनशील रहना चाहिए जिससे वे सजीव प्रदर्शन कलाओं के संग्रहालय की स्थापना को प्रोत्साहन दे सकें।

क्षेत्रीय–स्तर पर प्रदर्शन कला परिषद् की स्थापना कला के संपन्न अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए उठाए गए संरक्षण उपायों में सहायक होगी। इससे यह समझने में मदद मिलेगी कि किसी विशेष प्रदर्शन में क्या है, कौन प्रदर्शन प्रस्तुत कर रहा है और ऐसे प्रदर्शन की प्रस्तुति क्यों की जा रही है? हमें स्कूलों और संस्थानों में प्रदर्शन कला के अभ्यास को प्रोत्साहित करना चाहिए क्योंकि यह कलाकारों, पर्यवेक्षकों को तर्कसंगत बनाता है। प्रत्येक स्कूल को अपने परिसर में प्रदर्शन कलाओं के रूप में क्षेत्रीय, स्थानीय सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को स्थान देना चाहिए जिसमे पारंपरिक कलावाहकों और हितधारकों की भागीदारी हो। यह उन्हें एक बेहतर स्थिति और स्थिरता प्राप्त करने में मदद करेगा।

प्रलेखन एक परंपरा/अभ्यास को संरक्षित करने का अच्छा प्रयास है। लेकिन चूंकि हम सजीव शैली से जुड़े हैं इसलिए समुदाय के सदस्यों को कला रूप के प्रलेखन के लिए सभी मूर्त और अमूर्त तत्वों के साथ शामिल होने और प्रशिक्षित होने की आवश्यकता है। समुदाय के सदस्य कला के प्रदर्शन में आसानी से प्रविष्ट हो सकते हैं क्योंकि वे समुदाय का हिस्सा हैं और प्रदर्शन कला के तत्व उनके अस्तित्व का भाग हैं।

हमारे देश में प्रत्येक राजनेता, सम्मानित नागरिक और विद्वान गर्व से संस्कृति से संबंधित टिप्पणियों के साथ अपना संबोधन आरंभ करते हैं, लेकिन वास्तविक कार्यान्वयन में केंद्र सरकार की वित्तीय योजना में संस्कृति क्षेत्र को आवंटन कम होता है। देश में प्रदर्शन कला की जीवंत शैलियों को संरक्षित करने, बढ़ावा देने और विकसित करने के लिए कला उद्योग और इलेक्ट्रॉनिक माध्यम/सिनेमा उद्योग, जो सजीव प्रदर्शन के बाज़ार हैं और कलाकार जो सजीव तत्व हैं, सरकार की तुलना में अधिक योगदान देते हैं।

संघ लोक सेवा आयोग में भारतीय सांस्कृतिक सेवा की स्थापना करना उचित होगा जिसके माध्यम से प्रदर्शन कला की स्थिति और पद्धति को विकसित करने की ज़िम्मेदारी कुछ सर्वश्रेष्ठ प्रशासनिक विद्वानों को मिले।

संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्र, संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, सांस्कृतिक संसाधन और प्रशिक्षण केंद्र, कलाक्षेत्र और कई राज्य सांस्कृतिक निकाय व्यक्तियों और संस्थानों को सृजन, अनुसंधान और छात्रवृत्ति के लिए अनुदान दे रहे हैं और भारत में प्रदर्शन कला के उत्सवों और समारोहों का आयोजन कर रहे हैं। कला प्रदर्शन के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संबंध, भारतीय सांस्कृतिक संबंध केंद्र भारतीय कलाशैलियों के प्रचार के लिए योजना बना रहे हैं और विदेशी नागरिकों को भारतीय प्रदर्शन कला परंपरा सीखने और अपने विचारों का नए रचनात्मक परिणामों के साथ निष्पादन के लिए इसकी खोज करने के लिए सफलतापूर्वक आकर्षित कर रहे हैं।

नित्य प्रदर्शन करने वाली कलाएं मंच पर नए अनुभव और प्रदर्शन के अन्य वैकल्पिक स्थान की रचना कर रही हैं जो आपको पत्रिकाओं, समाचार–पत्रों और एवी चैनलों में दिखती हैं। लेकिन यह अभी भी भारत जैसे विशाल देश के लिए बहुत कम है जो विविध सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों, प्रदर्शन कला परंपराओं का एक बड़ा भंडार है। नए सांस्कृतिक परिदृश्यों और चुनौतियों के कारण प्रदर्शन कलाओं को अपने अस्तित्व, स्थिति और भविष्य की गंभीर समझ की आवश्यकता है। इसके लिए योजना में अधिक वित्तपोषण की आवश्यकता है। साथ ही, अधिक निवेश, अधिक प्रखर प्रशासनिक समझ, सांस्कृतिक प्रशासक, सृजन के लिए अधिक स्वायत्तता, ज़िला–स्तरों पर पेशेवर प्रदर्शन करने वाले कलाकारों को सूचीबद्ध करना, अधिक सजीव कला संग्रहालय, सांस्कृतिक संकुल, सांस्कृतिक पुस्तकालय, सांस्कृतिक पत्रिकाएं, आयोजन, अनुदान, फैलोशिप, छात्रवृत्ति, प्रशिक्षण अवसर, प्रदर्शन कला में नवाचार के लिए राष्ट्रीय प्रयोगशाला, ब्लॉक–स्तर पर अधिक से अधिक कम लागत पर तैयार पूरी तरह से सुसज्जित सभागारों की आवश्यकता है। हमें ग्रामीण दर्शकों के लिए कलाकारों के प्रदर्शन के अधिक से अधिक अवसर बनाने चाहिए। राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय–स्तर पर प्रदर्शन कला प्रतियोगिताओं और रचनात्मक कार्यशालाओं और प्रस्तुतियों को सरकार और स्थानीय सामाजिक, सामुदायिक निकायों द्वारा सम्मानित किया जाना चाहिए। सरकार को राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय चैनलों/केंद्रों की स्थापना करनी चाहिए जो विभिन्न प्रदर्शन कलाओं की परंपराओं में निहित ज्ञान का प्रदर्शन,प्रलेखन और प्रसार करें।

प्रदर्शन कला त्रिआयामी मानव विचार का मूर्त अनुशीलन है जिससे अमूर्त सृजनात्मक उत्कंठाएं और चरित्र जनमानस के लिए परिभाषित, अनुशासित स्थान में विषयवस्तु और अभिव्यक्ति की सुंदरता के साथ स्पष्ट रहे और समाज का शरीर, आवाज़, और मन पर नियंत्रण बने। फलस्वरूप स्थानीय क्षेत्र और विश्व में शांति और सद्भाव बना रहे जिससे भावी पीढ़ी प्रकृति और ब्रह्मांड के साथ सुख और सद्भाव से रहें।

(लेखक उप सचिव (ड्रामा/आईसीएच), निदेशक, कत्थक केंद्र हैं। लेख में व्यक्त विचार निजी हैं।)

ई–मेल : sumankumarang@gmail.com

छत्तीसगढ़ का पर्यावरण हितैषी हस्तशिल्प

–शंकरलाल धुर्वे

अगर आपने इतिहास में मोहनजोदड़ो के बारे में पढ़ा होगा तो आपको शायद वहां पर खुदाई में मिली डांसिंग गर्ल की कांस्य प्रतिमा के बारे में भी ज्ञात हो। माना जाता है कि वो प्रतिमा ढोकरा शिल्प की थी। बस्तर में आज भी इस कला को जीवित रखने की कोशिशें जारी हैं। भारत के अलावा विदेशों में भी इसकी काफी मांग है।

छत्तीसगढ़ भारत देश का एक अद्वितीय राज्य है जिसमें वन संसाधनों (44 प्रतिशत) को संरक्षित किया गया है। राज्य में पर्यावरण के अनुरूप विभिन्न पारंपरिक शिल्प ढोकरा शिल्प, लौहशिल्प, काष्ठ शिल्प, बांस शिल्प, मिट्टी शिल्प, पत्थर शिल्प, पारंपरिक वस्त्र इत्यादि विद्यमान हैं जोकि शत–प्रतिशत पर्यावरण हितैषी हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि शिल्प अवधारणा सभी आदिवासी प्रक्रियाओं पर आधारित है, जोकि इसकी विरासत और पर्यावरण को कोई नुकसान नहीं पहुंचाता। वास्तव में अनुष्ठानों और इस शिल्प की लोकविद्या से वे आने वाली पीढ़ियों के साथ संवाद करते हैं, ताकि उन्हें आवश्यक रूप से परंपरा के अनुरूप रखा जा सके। छत्तीसगढ़ के बस्तर में हस्तशिल्प विभिन्न माध्यमों से सदियों से जीवित रहे हैं। अन्य मूल के हस्तशिल्प के अतिरिक्त आदिवासियों की शिल्प अवधारणा वर्तमान में आवश्यक रूप से जागरूकता पैदा कर रही है।

प्राचीन मुख्य शिल्प

बेलमेटल/ढोकरा/धातु शिल्प

बेलमेटल/ढोकरा धातु की ढ़लाई शुरुआती ज्ञात तरीकों में से एक है। इसका इतिहास सिंधु सभ्यता के मोहनजोदड़ो काल से जुड़ा हुआ है। ढोकरा धातु की ढ़लाई संभवतः पूर्वी भारत में धातु चित्र बनाने की एकमात्र जीवित परंपरा है। यह कला पारंपरिक आदिवासियों द्वारा बस्तर के रोज़मर्रा के जीवन में आय सृजन का आधार है। इसी वजह से इस कला ने कई सदियों तक जीवित रहने में कामयाबी हासिल की है। धातु शिल्प कलाकृति बिना किसी तकनीकी उन्नति के हाथ से की जाती है। ढोकरा बनाने की अनूठी 12 चरणों की शिल्प प्रक्रिया व्यक्ति की मूल संरचनात्मक प्रवृत्ति है, जो कला और विज्ञान का एक सुंदर सम्मिलन है।

धातु ढ़लाई के लिए पिघला हुआ धातु या खोई हुई मोम धागा का अभी भी बस्तर आदिवासी लोगों द्वारा उपयोग किया जाता है। पिछले करीब 200 वर्षों से छत्तीसगढ़ में वो इसका निर्माण कर रहे हैं। वे प्राकृतिक ताकतों पर हावी होने या उनसे बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते बल्कि उनके साथ तालमेल से रहना सीखते हैं। सभी उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन अपनी इष्टतम् क्षमता के साथ उपयोग किए जाते हैं। ढोकरा पीतल, कांसा, जस्ता का एक मिश्रित धातु है, जो कास्टिंग को प्राचीन एवं प्रभावी रूप देता है। ढोकरा शिल्पकला में आदिवासी संस्कृति पर आधारित मूर्तियां बनाई जाती हैं। इनमें भी मुख्यतः दो तरह की मूर्तियां बनाई जाती हैं– पहली, देवी–देवताओं की और दूसरी, पशु आकृतियां। प्राचीन समय में शिल्पकार केवल पारंपरिक अनुष्ठानिक वस्तुओं और सजावटी सामानों का निर्माण करते थे, लेकिन अब नए डिज़ाइन प्राप्त करने की उत्पादन सामग्री के साथ उत्पाद में

विविधिकरण हुआ है। परिणामस्वरूप कई नवीन उपयोगिता वाले आईटम जैसे–दरवाजे के डोर हैंडल, लैंप शेड्स, हैंगर, ज्वैलरी बॉक्से और विभिन्न प्रकार के पेन स्टैंड, फ्लैग स्टैंड, शोपीस, ज्वैलरी आदि बनाए जा रहे हैं।

भारत में छत्तीसगढ़ हाट स्थित शबरी एम्पोरियम में 2000 से अधिक अनूठी पुरानी परंपरा और नए डिज़ाइनों के उत्पाद बिक्री हेतु प्रदर्शित किए गए हैं।

लौह शिल्प

छत्तीसगढ़ का एक और पारंपरिक शिल्प है 'लौह शिल्प'। इस शिल्प की सुंदरता इस तथ्य में निहित है कि लोहे के शिल्प में सभी जोड़ों को हाथ से तैयार किया जाता है और किसी भी आयाम की कला को बढ़ाने के लिए कोई भी क्षेत्ररक्षण या काटने की मशीन का उपयोग नहीं किया जाता है।

इस शिल्प के लिए इस्तेमाल होने वाला कच्चा माल मुख्य रूप से स्क्रैप लोहा है। उत्पादन की विधि सरल है फिर भी प्रभावी धातु को भट्ठियों में गर्म कर और फिर हथौड़े और चिमटियों का प्रयोग कर इसे मूल रूप से सावधानीपूर्वक आकार देकर लचीला बनाया जाता है। शिल्प पर महारथ इस तथ्य से स्पष्ट है, कि उत्पादों में किसी भी प्रकार का कोई जोड़ दिखाई नहीं देता। शिल्प की आकृति पूर्ण बनने पर इसकी चमक को और बढ़ाने के लिए वारनिश की एक कोडिंग लगाई जाती है। लैंप, कैंडल स्टैंड, संगीतकारों के पुतले, शेर, बंदर और हिरण जैसे खिलौने, जानवर, मूर्तियों और देवताओं का एक वर्गीकरण और जाली तथा लैमन दीया आनुष्ठानिक वस्तुओं की रेंज बढ़ाते हैं।

(लेखक महाप्रबंधक, हस्तशिल्प विकास बोर्ड, रायपुर, (छत्तीसगढ़) हैं।)

योजना
विकास को समर्पित मासिक
(हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू व 10 अन्य भारतीय भाषाओं में)

प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

कुरुक्षेत्र
ग्रामीण विकास पर मासिक
(हिंदी और अंग्रेजी)

आजकल
साहित्य एवं संस्कृति का मासिक
(हिंदी तथा उर्दू)

रोज़गार समाचार
साप्ताहिक
(हिंदी, अंग्रेजी तथा उर्दू)

बाल भारती
बच्चों की मासिक पत्रिका
(हिंदी)

घर पर हमारी पत्रिकाएं मंगाना है काफी आसान...

आपको सिर्फ नीचे दिए गए 'भारत कोश' के लिंक पर जा कर पत्रिका के लिए ऑनलाइन डिजिटल भुगतान करना है–
https://bharatkosh.gov.in/Product/Product

सदस्यता दरें

प्लान	योजना, कुरुक्षेत्र, आजकल (सभी भाषा)	बाल भारती	रोज़गार समाचार		सदस्यता शुल्क में रजिस्टर्ड डाक का शुल्क भी शामिल है। कोविड-19 महामारी के मद्देनज़र **नए ग्राहकों को अब रोज़गार समाचार के अलावा सभी पत्रिकाएं केवल रजिस्टर्ड डाक से ही भेजी जाएंगी।** पुराने ग्राहकों के लिए मौजूदा व्यवस्था बनी रहेगी।
वर्ष	रजिस्टर्ड डाक	रजिस्टर्ड डाक	मुद्रित प्रति (साधारण डाक)	ई-संस्करण	
1	₹ 434	₹ 364	₹ 530	₹ 400	
2	₹ 838	₹ 708	₹ 1000	₹ 750	
3	₹ 1222	₹ 1032	₹ 1400	₹ 1050	

ऑनलाइन के अलावा आप डाक द्वारा डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर से भी प्लान के अनुसार निर्धारित राशि भेज सकते हैं। डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल ऑडर या मनीआर्डर '**अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय**' के पक्ष में **नई दिल्ली** में देय होना चाहिए। रोज़गार समाचार की 6 माह की सदस्यता का प्लान भी उपलब्ध है, प्रिंट संस्करण रु. 265, ई-संस्करण रु. 200/-, कृपया ऑनलान भुगतान के लिए https://eneversion.nic.in/membership/login लिंक पर जाएं। डिमांड ड्राफ्ट 'Employment News' के पक्ष में **नई दिल्ली** में देय होना चाहिए। अपने डीडी, पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर के साथ नीचे दिया गया 'सदस्यता कूपन' या उसकी फोटो कॉपी में सभी विवरण भरकर हमें भेजे। भेजने का पता है-

संपादक, पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग, कक्ष सं. 779, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003.

अधिक जानकारी के लिए ईमेल करें- pdjucir@gmail.com

हमसे संपर्क करें – **फोन: 011-24367453,** (सोमवार से शुक्रवार सभी कार्य दिवस पर प्रात: साढ़े नौ बजे से शाम छह बजे तक)

कृपया नोट करें कि पत्रिका भेजने में, सदस्यता शुल्क प्राप्त होने के बाद कम से कम आठ सप्ताह लगते हैं, कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें और पत्रिका न मिलने की शिकायत इस अवधि के बाद करें।

सदस्यता कूपन (नई सदस्यता/नवीकरण/पते में परिवर्तन)

कृपया मुझे 1/2/3 वर्ष के प्लान के तहत ..... पत्रिका ..... भाषा में भेजें।

नाम (साफ व बड़े अक्षरों में) .....

पता : .....

..... जिला ..... पिन .....

ईमेल ..... मोबाइल नं. .....

डीडी/पीओ/एमओ सं. ..... दिनांक ..... सदस्यता सं. .....

Prospect IAS
Institute for Civil Services Examination

अपनी तैयारी शुरू कीजिए देश के सबसे प्रतिष्ठित फैकल्टी नेटवर्क के साथ

Prospect IAS
Institute for Civil Services Examination

समसामयिक विश्लेषण

स्तरीय अध्ययन–सामग्री

लाइफ मैनेजमेंट सेशन

ऑनलाइन व्यक्तिगत डैशबोर्ड

अपनी विशिष्टताओं के साथ **Prospect IAS** आपकी सफलता की अधिकतम सम्भावना सुनिश्चित करता है।

हमारी विशिष्टताएँ

- सभी विषयों के विभिन्न खण्डों का विशेषज्ञता आधारित अध्यापन
- CSE विशेषज्ञों तथा अकादमिक फैकल्टी का बेहतरीन सन्तुलन
- प्रभावी लेखन शैली के विकास हेतु भाषा–प्रवीणता का विशेष कोर्स
- माध्यम को दोष न देते हुए गुणवत्ता पर फोकस
- अभ्यर्थियों को औसत नहीं बल्कि विशिष्ट बनने का वातावरण
- कैलेण्डर आधारित रिवीजन तथा नियमित प्रैक्टिस

* हिन्दी तथा English माध्यम के लिए अलग–अलग बैच

हमारे पाठ्यक्रम

- सामान्य अध्ययन (प्रारम्भिक तथा मुख्य परीक्षा हेतु)
- सीसैट
- निबन्ध
- वैकल्पिक विषय :
  - इतिहास
  - भूगोल
  - राजनीति विज्ञान तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध
  - हिन्दी साहित्य
  - लोक प्रशासन
- भाषा–प्रवीणता का विशेष कोर्स

011–43584646 / +91 9821 9821 04 / +91 9821 9821 07

B–18, 1st Floor, Opp. Aggarwal Sweets, Mukherjee Nagar, Delhi 110009

enquiry@prospectias.in | prospectias | www.prospectias.in

अब उपलब्ध है...

इकोनॉमिक सर्वे 2020-21 (अंग्रेजी संस्करण)

खंड-1 और 2

भारत के आर्थिक विकास की गहन समीक्षा से युक्त
इस पुस्तक में देश के औद्योगिक, कृषि, विनिर्माण इत्यादि
सभी क्षेत्रों के विस्तृत सांख्यिकीय आंकड़े दिए गए हैं।

आज ही नज़दीकी पुस्तक विक्रेता के पास
अपनी प्रति सुरक्षित कराएं

ऑर्डर के लिए संपर्क करें :

फोन : 011-24365609

ई-मेल : businesswng@gmail.com

वेबसाइट : publicationsdivision.nic.in

प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्पलेक्स,
लोधी रोड, नई दिल्ली -110003

ट्विटर पर फोलो करें @DPD_India

आर. एन. आई./708/57
डाक-तार पंजीकरण संख्या : डी.एल. (एस)-05/3164/2021-23
आई.एस.एस.एन. 0971-8451, पूर्व भुगतान के बिना आर.एम.एस.
दिल्ली में डाक में डालने के लिए लाइसेंस : यू (डी.एन.)-54/2021-23
01 अप्रैल, 2021 को प्रकाशित एवं 5-6 अप्रैल, 2021 को डाक द्वारा जारी

R.N.I/708/57
P&T Regd. No. DL (S)-05/3164/2021-23
ISSN 0971-8451, Licenced under U (DN)-54/2021-23
to Post without pre-payment at R.M.S. Delhi.

अब प्रिंट संस्करण और ई-बुक संस्करण उपलब्ध

भारत 2020

भारत के प्रांतों, केंद्रशासित प्रदेशों, भारत सरकार के मंत्रालयों और विभागों तथा नीतियों, कार्यक्रमों और उपलब्धियों की आधिकारिक जानकारी देने वाला

वार्षिक संदर्भ ग्रंथ

मूल्यः प्रिंट संस्करण ₹ 300/- ई-बुक संस्करण ₹ 225/-

पुस्तकें खरीदने के लिए प्रकाशन विभाग की
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in पर जाएं

ई-बुक एमेज़ॉन और गूगल प्ले पर उपलब्ध

देश भर में प्रकाशन विभाग के विक्रय केन्द्रों और
पुस्तक विक्रेताओं से भी खरीद सकते हैं

ऑर्डर के लिए संपर्क करें :
फोन : 011-24365609
ई-मेल : businesswng@gmail.com
हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए
कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।
सूचना भवन की पुस्तक दीर्घा में पधारें

प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार
सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्पलेक्स,
लोधी रोड नई दिल्ली -110003
वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

ट्विटर पर फोलो करें @ DPD_India

प्रकाशक और मुद्रकः मोनीदीपा मुखर्जी, महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003.
मुद्रक : जे.के. ऑफसेट, बी-278, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया, फेस-1, नई दिल्ली-110020, वरिष्ठ संपादकः ललिता खुराना